

THE
YOGADARS'ANA

OF

PATANJALI

with the commentaries

BHĀVĀGAṆESHĪVĀ AND NĀGÔJĪBHATṬĪVĀ.



EDITED

BY

MAHADEVĀ GANGĀDHAR BĀKRE.

Second Edition.

PUBLISHED

BY

PÂNDURANG JĀWAJĪ,

PROPRIETOR OF THE 'NIRNAYA-SAGAR' PRESS,

BOMBAY.

1927

[All rights reserved by the publisher.]

PUBLISHER:—Pandurang Jawaji, } at the 'Nirnaya-sagar' Press,
PRINTER :—Ramchandra Yesu Shedge, } 26-28, Kolbhat Lane, Bombay.

भगवत्पतञ्जलिकृतं योगदर्शनम् ।



भावागणेशीय-नागोजीभट्टीयवृत्तिसहितम् ।

इदं च

वाक्रे इत्युपाह्वगंगाधरभट्टसुतेन महादेवशर्मणा
संशोधितम् ।

(द्वितीयावृत्तिः ।)

तच्च

मुम्बय्यां

निर्णयसागराधिपेन पाण्डुरङ्ग जावजी इत्यनेन स्वीयेऽङ्कनालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

शके १८४९, सन १९२७.

मूल्यं १४ आणकाः ।

निवेदनम् ।

श्री ६ गुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः ।

अथ भगवत्पतञ्जलिकृतं योगदर्शनं व्याख्याद्वययुतं सुद्रयित्वा प्रकाशयते ।

पङ्कदर्शिन्यां काणादन्यायदर्शनयोरिव कर्मब्रह्ममीमांसयोरिव च सांख्ययोगदर्शनयोरपि दृश्यते परस्य पूर्वमाश्रित्य प्रवृत्तत्वम् । तथाहि—यथा न्यायदर्शने, कणादेन व्यवस्थापितान्पदार्थानाश्रित्यानुमानं व्युत्पादितं, ब्रह्ममीमांसायां च कर्ममीमांसकव्युत्पादितान्येव शाब्दन्यायतत्त्वानि समाश्रित्य ब्रह्म मीमांसितम्, एवमत्रापि योगदर्शने सांख्योक्तामेव प्रक्रियामाश्रित्य योगोऽनुशिष्टः । अत एव च भगवता पाराशर्येण 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (२।१।३) इति सांख्य-स्मृतिनिरसनेनैव योगस्मृतिरपि निरस्तेत्युक्तम् । नच यदि महर्षिणा योगो निरस्तः किमस्माकं तद्दर्शनदर्शनेनेति वाच्यम् । महर्षिणा योगैरभ्युपगतं जगतोऽचेतनोपादानकत्वपुरुषनानात्वादिकमेव श्रुतिविरोधान्निरस्यते नतु यमनियमाद्यङ्गोपेतस्य समाधिसंज्ञकस्य तस्य तदवान्तर-फलविभूति-परमफलकैवल्यसाधनत्वमपि निरस्यते । अयमस्य दर्शनान्तरेभ्यो विशेषो यदत्राभिहितानां संयमफलभूतानामलौकिकसिद्धीनामस्मिन्नेव देहेऽनुभवः । अलौकिकत्वं चासां सिद्धीनां लौकिकोपायासाध्यत्वात् लौकिकोपायसाध्यानामप्यलौकिकोपायसाध्यत्वाच्च बोध्यम् । तत्र चास्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं सर्वसंप्रतिपन्नम् ।

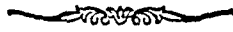
अस्येदं व्याख्याद्वयं पं. काशीशेपन्यंकटाचलशास्त्रिभिः स्वसंग्रहस्थं सुद्रणार्थं निर्णयसागरमुद्रालयाधिपतिसात्कृतम् । तत्र भावागणेशकृतटीकापुस्तकमान्ध्रलिपावस्ति नागेशकृतटीका च महाराष्ट्रलिप्याम् । तत्र आन्ध्रलिपिस्थं पुस्तकं महाराष्ट्रलिप्यां कारितम् । मम चान्ध्रलिपेरपरिचयात् तत्प्रतिबिम्बमेव सर्वथालम्बनमभूत् । एतच्च पुस्तकद्वयमपि अशुद्धिवहुलं कोशान्तररहितं च । तथापि नागेशेन भावागणेशीय-

दीपिकाया एव प्रपञ्चः कृत इति बहुषु स्थलेषु एकः पृ.
 कोशत्वमगात् । कतिपयेषु स्थानेषु छायाख्यां नागेशेन प्रायः
 कानुसारेण लिखितां वृत्तिं वाचस्पत्यसहितं भाष्यं च दृष्ट्वा यथामति
 पर्यशोधयम् । तेन श्रीयोगेश्वरः प्रीणीतात् इति शिवम् ।

वाक्त्रे इत्युपाह्वो गंगाधरभट्टसूनुर्महादेवशर्मा ।



योगसूत्रस्थविषयाणामनुक्रमणिका ।



| | सू. | पृ. | | सू. | पृ. |
|--|-----|-----|---|-------|-----|
| समाधिपादः १ | | | अस्य चतस्रो भूमयः | | |
| कर्तव्यार्थप्रतिज्ञा ... | १ | १ | परवैराग्यम् ... | १६ | १२ |
| योगलक्षणम् ... | २ | २ | संप्रज्ञातयोगः ... | १७ | १३ |
| चित्तस्य स्वरूपमवस्थाश्च [ना.वृ.] | | | असंप्रज्ञातः ... | १८ | १५ |
| योगकाले पुरुषस्य स्वरूपे- णावस्थानम् ... | ३ | ३ | भवप्रत्ययः (असंप्र- ज्ञातभेदः) ... | १९ | १६ |
| च्युत्थानकाले पुरुष- स्य वृत्तिसारूप्यम् | ४ | ४ | उपायप्रत्ययः ... | २०-२२ | १७ |
| पुरुषे वृत्तिसारूप्यस्य विस्तरेणोपपादनम् | | | ईश्वरलक्षणम् ... | २३ | १८ |
| चित्पुरुषयोः परस्परं प्रतिचिम्बश्च । (ना.वृ.) | | | ईश्वरे प्रमाणम् ... | २४ | १९ |
| वृत्तिभेदाः ... | ५-६ | ५ | तदैश्वर्यस्य नित्यत्वम् | २५ | २० |
| प्रमाणवृत्तीनां लक्षणम् | ७ | ६ | ईश्वरप्रणिधानम् ... | २६-२७ | २० |
| प्रमालक्षणम् | | | ततो जीवसाक्षात्कारो- ऽन्तरायनिवृत्तिश्च | २८ | २१ |
| विपर्ययलक्षणम् ... | ८ | ७ | योगान्तरायाः ... | २९-३० | २१ |
| विकल्पलक्षणम् ... | ९ | ८ | अन्तरायनिरासे उपा- यान्तरम् ... | ३१ | २२ |
| अस्यैव परमते आहा- र्यज्ञानत्वम् | | | चित्तस्य विभुत्वम् (ना.वृ.) | | |
| निद्रालक्षणम् ... | १० | ९ | योगस्थितिनिबन्धनानि | ३२-३८ | २३ |
| स्मृतिलक्षणम् ... | ११ | १० | एतान्येव परिकर्माणि | | |
| अभ्यासवैराग्ययोः चित्तवृत्तिनिरोधो- पायत्वम् ... | १२ | ११ | परिकर्मनिष्पत्तिलक्ष- णम् ... | ३९ | २६ |
| अभ्यासलक्षणम् ... | १३ | ११ | संप्रज्ञातसमाधिः फलं | | |
| तद्वाच्योपायः ... | १४ | ११ | ग्रहीत्रादिसमापत्तयः | ४० | २६ |
| अपरवैराग्यम् ... | १५ | १२ | सवितर्का समापत्तिः | ४१ | २७ |
| | | | निर्वितर्का " | ४२ | २८ |
| | | | सविचारा निर्विचारा | | |
| | | | च समापत्तिः ... | ४३ | २९ |
| | | | समापत्तीनां सूक्ष्मवि- षयकत्वं च प्रकृ- तिपर्यन्तम् ... | ४४ | ३० |

| | सू. | पृ. |
|-------------------------|-----|-----|
| संप्रज्ञातसामान्यलक्ष- | | |
| णम् | ४५ | ३० |
| निर्विचारसमापत्तेः | | |
| फलम् | ४६ | ३० |
| उक्तसमापत्तीनामृत- | | |
| भरासंज्ञा | ४७ | ३१ |
| योगजन्यप्रेक्षायाः प्र- | | |
| ज्ञान्तरतो विशेषः | ४८ | ३१ |
| संप्रज्ञातपरंपरायाः फ- | | |
| लम् | ४९ | ३२ |
| असंप्रज्ञातफलम् ... | ५० | ३३ |

साधनपादः २

| | | |
|-------------------------|----|----|
| व्युत्थितचित्तस्य यो- | | |
| गोपायः | १ | ३५ |
| तस्य योगोत्पादने द्वा- | | |
| रम् | २ | ३६ |
| क्लेशाः | ३ | ३६ |
| क्लेशानामविद्यामूलत्वम् | ४ | ३७ |
| अविद्यालक्षणम् ... | ५ | ३७ |
| अस्मितालक्षणम् ... | ६ | ३८ |
| रागलक्षणम् | ७ | ३९ |
| द्वेषलक्षणम् | ८ | ३९ |
| अभिनिवेशलक्षणम् | ९ | ३९ |
| क्लेशतनूकरणस्य फलम् | १० | ४० |
| तनूकृतानां हानोपायः | ११ | ४० |
| क्लेशानां कर्माशयद्वारा | | |
| दुःखहेतुत्वम् | १२ | ४१ |
| कर्माशयफलेऽपि क्ले- | | |
| शानां हेतुत्वम् | १३ | ४१ |
| विपाकानां हादपरि- | | |
| तापफलत्वम् | १४ | ४३ |
| सुखस्यापि दुःखत्वम् | १५ | ४३ |
| हेयम् | १६ | ४४ |

| | सू. | पृ. |
|---------------------------|-------|-----|
| हेयहेतुः | १७ | ४४ |
| दृश्यपदार्थः | १८ | ४५ |
| विकाराणामपि दृश्य- | | |
| त्वम् | १९ | ४५ |
| द्रष्टृपदार्थः | २० | ४६ |
| द्रष्टरि प्रमाणम् ... | २१ | ४७ |
| एकमोक्षेऽपि प्रकृत्या- | | |
| दिस्थितिः | २२ | ४७ |
| द्रष्टृदृश्ययोर्जन्माख्यः | | |
| संयोग एव दुःख- | | |
| हेतुः | २३ | ४८ |
| तादृशसंयोगस्यापि हे- | | |
| तुरविद्या | २४ | ४८ |
| हानम् | २५ | ४९ |
| हानोपायो विवेक- | | |
| ख्यातिः | २६ | ४९ |
| तज्जन्या प्रज्ञा सप्तधा | २७ | ४९ |
| विवेकख्यात्युपायाः | २८ | ५० |
| योगस्याष्टाङ्गानि ... | २९ | ५० |
| यमाः | ३० | ५१ |
| त एवासंकुचिता म- | | |
| हाव्रतम् | ३१ | ५१ |
| नियमाः | ३२ | ५२ |
| यमनियमेषु विघ्ननिवृ- | | |
| त्त्युपायाः | ३३-३४ | ५२ |
| यमनियमनिष्पत्तिसू- | | |
| चिकाः सिद्धयः | ३५-४५ | ५३ |
| आसनम् | ४६-४८ | ५५ |
| प्राणायामः | ४९-५३ | ५५ |
| प्रत्याहारः | ५४-५५ | ५८ |

विभूतिपादः ३

| | | |
|----------------|---|----|
| धारणा | १ | ६० |
| ध्यानम् | २ | ६० |
| समाधिः | ३ | ६० |

| | सू. | पृ. | | सू. | पृ. |
|-----------------------------|-------|-----|------------------------------|-------|-----|
| धारणादित्रयस्य संयम | | | सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट- | | |
| इति पारिभाषिकी | | | ज्ञानम् | २४ | ७१ |
| संज्ञा | ४ | ६१ | भुवनज्ञानम् | २५ | ७१ |
| संयमस्य योगाङ्गता- | | | नक्षत्रमण्डलज्ञानम् | २६ | ७१ |
| द्वारम् | ५ | ६१ | ध्रुवगतिज्ञानम् | २७ | ७२ |
| संयमानुष्ठाने विशेषः | ६ | ६१ | कायव्यूहज्ञानम् | २८ | ७२ |
| संयमस्य संप्रज्ञातं प्र- | | | क्षुत्पिपासानिवृत्तिः | २९ | ७२ |
| त्यन्तरङ्गत्वम् | ७ | ६१ | स्थैर्यम् | ३० | ७२ |
| " " असंप्रज्ञाते | | | सिद्धदर्शनम् | ३१ | ७२ |
| चहिरङ्गत्वम् | ८ | ६२ | प्रातिभज्ञानम् | ३२ | ७२ |
| योगरूपसमाध्यवस्था- | | | चित्तसाक्षात्कारः | ३३ | ७३ |
| यां विशेषः | ९ | ६२ | आत्मसाक्षात्कारः | ३४ | ७३ |
| निरोधस्यापि संस्का- | | | तत्फलं षट् सिद्धयः | ३५ | ७३ |
| रजनकत्वम् | १० | ६३ | ताः समाधावुपसर्गाः | ३६ | ७४ |
| योगाङ्गसमाध्यवस्था- | | | परकायप्रवेशः | ३७ | ७४ |
| यां विशेषः | ११-१२ | ६३ | जलकण्टकादिष्वसंगः | ३८ | ७४ |
| भूतेन्द्रियाणां धर्मल- | | | शरीरप्रज्वलनम् | ३९ | ७५ |
| क्षणावस्थाख्याः | | | दिव्यश्रोत्रादि | ४० | ७६ |
| परिणामाः | १३ | ६३ | आकाशगमनम् | ४१ | ७७ |
| बौद्धनिरासाय धर्मा- | | | महाविदेहसिद्धिः | ४२ | ७७ |
| तिरिक्तधर्मसाधनम् | १४ | ६५ | भूतानां वशीकारः | ४३ | ७७ |
| कुर्वद्रूपनिरासाय एक- | | | अणिमादिसिद्धयः | ४४-४५ | ७९ |
| स्यानेकपरिणामव- | | | इन्द्रियजयः | ४६ | ८० |
| त्वंसाधनम् | १५ | ६६ | मनोजविलादि | ४७ | ८१ |
| संयमसिद्धिरूपा विभूतयः | | | सर्वाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञ- | | |
| अतीतानागतज्ञानम् | १६ | ६६ | त्वं च | ४८ | ८१ |
| सर्वप्राणिस्तज्ञानम् | १७ | ६७ | कैवल्यम् | ४९ | ८२ |
| स्फोटनिरूपणम् | | | संगस्ययाकरणोपदेशः | ५० | ८२ |
| पूर्वजातिज्ञानम् | १८ | ६९ | विवेकज्ञानम् | ५१-५३ | ८२ |
| परचित्तज्ञानम् | १९ | ६९ | कैवल्यप्राप्तेः सिद्ध्यन- | | |
| अन्तर्धानम् | २० | ६९ | पेक्षत्वम् | ५४ | ८४ |
| मरणकालज्ञानम् | २१ | ७० | | | |
| अवन्ध्यलत्वम् | २२ | ७० | | | |
| बलम् | २३ | ७१ | | | |

कैवल्यपादः ४

जन्मादयः पञ्च सिद्धि-

हेतवः १ ८६

| सू. | पृ. | सू. | पृ. |
|----------------------------|--------|---------------------------|-------------|
| देहादेर्जात्यन्तरपरि- | | कार्ये एकत्वव्यवहारः | |
| णामः | २ ८६ | परिणामैकत्वात्... | १४ ९३ |
| प्रकृतैः प्रवृत्तिस्वाभा- | | विज्ञानवादनिरासः ... | १५ ९३ |
| व्यम् | ३ ८७ | दृष्टिदृष्टिवादनिरासः | १६ ९४ |
| निर्माणचित्तानि ... | ४ ८७ | चित्तस्य वस्तुग्रहणे | |
| तेषु एकस्यैव प्रवर्तकत्वम् | ५ ८८ | नियामकम् ... | १७ ९५ |
| समाधिसिद्धस्यैव चि- | | चित्तपुरुषभेदपरीक्षा | १८-२४ ९६ |
| त्तस्य मोक्षयोग्य- | | विवेकज्ञानजः प्रथमो | |
| त्वम् | ६-८ ८८ | मोक्षः | २५ ९९ |
| अनेकजन्मव्यवहिता- | | मोक्षद्वयेऽपि संप्रज्ञातो | |
| दपि कर्मणो वास- | | हेतुः | २६-२७ ९९ |
| नाभिव्यक्तिः ... | ९ ८९ | संस्काराणां चित्तेन स- | |
| वासनानां प्रवाहाना- | | होच्छेदः ... | २८ १०० |
| दित्वम् | १० ९० | धर्ममेघः समाधिः ... | २९ १०० |
| वासनानां शक्यसमु- | | द्वितीयो मोक्षः ... | ३० १०१ |
| च्छेदत्वम् ... | ११ ९१ | तृतीयः परमो मोक्षः | ३१-३२ १०१ * |
| कार्याणां स्वरूपतो नि- | | कमशब्दार्थः ... | ३३ १०२ |
| त्यत्वम् | १२ ९२ | वस्तु प्रतिक्षणं परिण- | |
| कार्यमात्रस्य त्रिगुणा- | | मते कैवल्यस्वरूपम् | ३४ १०३ |
| त्मकत्वम् ... | १३ ९२ | | |

इति योगसूत्रस्थविषयानुक्रमणिका ।



श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

भावागणेशीय-नागोजीभट्टीयवृत्तिसहितं पातञ्जलयोगसूत्रम् ।

समाधिपादः १

भावागणेशीया वृत्तिः ।

नानोपाधिषु योऽशकाननलवत्संयोज्य मायाबला-

द्यात्येको बहुलात्मतामत इयं स्वाभाविकी यस्य नो ।

तांश्रान्ते निजमायया विरचितान्स्वांशानुपाधीनहो

संहत्याद्वय एव तिष्ठति पुनस्तस्यै परस्यै नमः ॥ १ ॥

मन्दधीसुखबोधाय सारार्थस्पष्टभाषिणीम् ।

भावागणेशः कुरुते योगसूत्रेषु दीपिकाम् ॥ २ ॥

भाष्ये परीक्षितो योऽर्थो वार्तिके गुरुभिः स्वयम् ।

संक्षिप्तः सिद्धवत्सोऽस्यां युक्तिपूक्ताधिका कचिव् ॥ ३ ॥

‘मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् । ब्रह्मप्राप्तो
विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव’ इत्यादिश्रुतिषु सुमुक्षूणां
योगविधिरनुष्ठानार्थं ज्ञेयतयावगम्यते । अतो योगविधिमुपदिदिक्षुर्भगवान्पत-
ञ्जलिः शिष्यावधानाय तच्छास्त्रारम्भं प्रतिजानीते—

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अथशब्दोऽत्र उच्चारणमात्रेण महत्तरूपोऽधिकारवाचकः । न प्रश्नानन्तर्याद्य-
र्थकः । शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यत इति न्यायेन शब्दानुपस्थितार्थानन्तर्या-
र्थकत्वानौचित्यात् । शिष्यप्रश्नगुर्वाज्ञालोकानुकम्पादीनामविशेषेण शास्त्ररचना-
प्रयोजकतया कस्यानन्तर्ये तात्पर्यमित्यवधारयितुमशक्यत्वात् । हिरण्यगर्भादिना
शिष्टस्य शासनमनुशासनं शास्त्रम् । शास्यते अनेनेति व्युत्पत्तेः । तथाच
हिरण्यगर्भादिगुरूपदिष्टस्य योगस्य शास्त्रमधिकृतम् । आरब्धमित्यर्थः ॥ १ ॥

नागोजीभट्टीया वृत्तिः ।

अथ योगानुशासनम् । अथशब्दः स्वरूपेण महत्तरं दध्यादिवत्, अधिका-
रव्योक्तश्च । योगोऽनुशिष्यते विविच्य बोध्यतेऽनेनेति योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं
बोद्धव्यमित्यर्थः । हिरण्यगर्भाद्युपदिष्टस्यैव योगस्य विविच्य बोधनमत्रेति बोध्यम् ॥ १ ॥

उपदिष्टं योगं लक्षयति सूत्राभ्याम्—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयः तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः । इदं च चित्ते निवर्तनं जीवनयोनियत्नवदतीन्द्रियः प्रयत्नविशेषश्चित्त-
निग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुर्न तु वृत्त्यभाव एव, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वस्या-
नुपपत्तेः, अभावस्य संस्कारजनकत्वेऽतिप्रसङ्गादिति । अत्र सर्ववृत्तिनिरोधा-
वचनेन संप्रज्ञातयोगोऽपि संगृहीतः । योगो हि द्विविधः । संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च ।
अत्राद्यो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः । अन्यस्तु सर्ववृत्तिनिरोधः । वृत्तिनिरोधस्तूभ-
यसाधारण इति ॥ २ ॥

योगलक्षणमाह—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा
या वृत्तयस्तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः । वृत्तिनिवर्तनं च जीवनयोनियत्नव-
दतीन्द्रियो यत्नविशेषश्चित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुः, चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषा-
वस्था वा । सा चावस्था तारतम्यविशिष्टसंस्कारपरिणामधारा नतु वृत्त्यभाव
एव । अभावस्याधिकरणावस्थाविशेषरूपत्वाद्बक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेः ।
अभावस्य संस्कारजनकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । संस्कारवृद्धिं विनानुदिनं योगस्य कालवृद्धौ
नियामकान्तरासंभवात् । अत्र सर्ववृत्तिनिरोधावचनात्संप्रज्ञातयोगोऽपि संगृहीतः ।
द्विविधो योगः संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । तत्र यो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः स च
विषयान्तरसंचाराख्यप्रतिबन्धकनिवृत्तिरूपतया विषयान्तरवासनाभिभवद्वारा धर्म-
विशेषद्वारा च ध्येयसाक्षात्कारहेतुः । चित्तं हि स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च ।
तमसावरणादेव तु न सर्वदा सर्वं गृह्णाति । अतस्तमोवर्धकानां विषयान्तरवा-
सनापापादीनां क्षये [योगतो वृत्तिः] स्वयमेव ध्येयं वस्तु साक्षात्क्रियते चित्तेनेति
सिद्धान्तः । अन्यः सर्ववृत्तिनिरोधः । अत्रेदं बोध्यम् । क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं
निरुद्धमिति पञ्च चित्तस्यावस्थाविशेषाः । तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादत्यन्तमस्थिरं
शब्दानुरागि च । यथा दैत्यदानवादीनाम् । मूढं तमःसमुद्रेकात्कृत्याकृत्यविचार-
शून्यं क्रोधादियुतं निद्रादिमदधर्माद्यनुरागि च । यथा रक्षःपिशाचादीनाम् । विक्षिप्तं
सत्त्वोद्रेकाद्दुःखसाधनपरिहारेण सुखसाधनेष्वेव प्रवृत्तम् । यथा देवानाम् । चित्तं
हि रजसा प्रवृत्तिशीलं, तमसा परापकारनिरतं, सत्त्वेन सुखमयं भवति । आशु
तिष्ठणु विद्यमानोऽपि यत्किञ्चित्तवृत्तिनिरोधो न योगपक्षे तत्प्रतिद्वन्द्वविक्षेपोप-
सर्जनत्वात् । एकाग्रत्वं ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः । तत्र हि सति कूटस्थनित्यचित्स्व-
रूपस्य हृदयदेशेऽन्तःकरणावच्छेदेनाभिव्यक्तस्य साक्षात्कारो भवति । साक्षात्कारे
चाविद्योच्छेदात्तन्मूलक्लेशक्षयो भवति । अस्यामवस्थायां संप्रज्ञातयोगः । अत्र रज-
स्तमोमयवृत्तेः सर्वथा निरोधः । सात्विकी त्वात्मविषयास्त्येव । अस्य च ध्येयवस्तु-
पुरुषतत्त्वसाक्षात्कारद्वारा क्लेशाद्युच्छेदकत्वेन मोक्षहेतुता । निरुद्धं निरुद्धसकलवृत्ति
संस्कारमात्रशेषम् । अत्र सर्ववृत्तिनिरोधेऽसंप्रज्ञातः । अस्य चाखिलवृत्तिसंस्कारदा-
हद्वारा प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेण मोक्षहेतुतेति वक्ष्यामः । तदुक्तं—

‘एकाग्रता चेद्वाह्यादौ निरोधश्चेत्तदात्मनि ।

क्षिप्तादित्रिभुवस्त्वागात्कस्य मोक्षोऽत्र दूरतः’ इति ॥

यदाहि तमो रजोगुणमपि विजित्य त्रिगुणात्मकेषु चित्ते प्रधानं सत्त्वमावृणोति । तदा रजस्तमःसमुत्सारणेऽशक्तत्वात्तमसा स्थगितं चित्तमधर्मावैराग्याद्युपगच्छति । एवं सर्वत्रेच्छाप्रतिपातरूपमनैश्वर्यं चोपगच्छति । विषययज्ञानात्मकमज्ञानं निद्रारूपं चोपगच्छति । इदं मूढम् । यदा हि स्वन्यूनाभ्यां परस्परसमाभ्यां रजस्तमोभ्यां संसृष्टं सत्त्वं तदाऽणिमाद्यैश्वर्यशब्दादिविषयप्रियं भवति । इदं क्षिप्तमाद्यम् । यदा हि क्षीणतमस्करजसानुविद्धसत्त्वकं तदा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति । इदं विक्षिप्तम् । यदा तु लेशतोऽपि रजस्तमोमलरहितसत्त्वकं चित्तं तयोरपगमे संसारहेतुत्वादिदोषदर्शनान्निरुद्धबाह्यवृत्तिकं स्वरूपप्रतिष्ठं स्वाभाविकप्रसादादियुतं तदा सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिरूपविवेकोपगं तन्मात्रवृत्तिकं भवति । एतदेवैकाग्रमित्युच्यते । अस्यैव परा काष्ठा धर्ममेघसमाधिः, यत्र चित्तस्य ध्यानमात्रप्रियता भवति । यदा तु—चिच्छत्तयपेक्षया विवेकख्यातौ सत्त्वगुणात्मकत्वेनाधमत्वं गृह्णाति चिच्छक्तिः पुरुषाख्याऽपरिणामित्वात् बुद्धिबत्कियाराहित्येन विषयदेशे गमनरूपप्रतिसंक्रमरहिता विषयसङ्गरहिता च बुद्ध्या स्ववृत्तिद्वारा दर्शितविषया सुखदुःख-मोहात्मकत्वरूपाशुद्धिरहिता अनन्ता च, विवेकख्यातिस्तु सत्त्वगुणकार्यापि परिणामिनी दीपशिखावद्विषयेषु संचरणात्प्रतिसंक्रमवती जडा सुखदुःखाद्यशुद्धि-मती परिच्छिन्नत्वादन्तवती, सुखमपि विवेकिनो दुःखवद्देयमेवेति तस्यामपि विरज्यते चित्तं—तदा सर्ववृत्तिनिरोध इति बोध्यम् । इदं निरुद्धम् ॥ २ ॥

नन्वेवं व्युत्थानकालीने यत्किंचिद्वृत्तिनिरोधेऽतिव्याप्तिः । किंच वृत्तिविषयक-बोधस्वरूप एव पुरुषः काष्ठाग्निवदिति योगसांख्ययोः सिद्धान्तः, अतो वृत्तिविलये तदनुभवरूपः पुरुषोऽपि नश्येत् काष्ठापायेऽग्निवत्, ततश्च योगकाले कः पुरुषार्थ इत्यपेक्षायामिदं सूत्रं प्रवर्तते—

‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

तदेत्यनेन निरोधविशेष एवासंप्रज्ञाताख्यः परामृश्यते । योग्यताबलात् । संप्रज्ञाते स्वरूपावस्थानाभावस्योत्तरसूत्रे चक्ष्यमाणत्वात् । तदा सर्ववृत्तिनिरोध-काले द्रष्टुः दृष्टिस्वरूपस्य पुरुषस्य स्वरूपे त्विर्विषयचिन्मात्ररूपे अवस्थानं भवति । स्वतो धर्मतो वा न नाशशङ्कास्तीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे—“असंभवति सर्वत्र दिग्भूमाकाशरूपिणा(?) । प्रकाश्ये यादृशं रूपं प्रकाशस्यामलं भवेत् ॥ अहं त्वं ज-गदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंप्रभे । स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टव्यविक्षणे” इति । इदानीं च वृत्त्यभावात्तदनुगतदुःखभोगनिवृत्तिः पुरुषार्थः । तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थितिहेतुचित्तवृत्तिनिरोधो योगलक्षणम् । तच्च न व्युत्थानकालीनस्यास्तीति नातिव्याप्तिरिति भावः । संप्रज्ञातस्य असंप्रज्ञातद्वारा स्वरूपावस्थितिहेतुत्वमुप-पादनीयम् ॥ ३ ॥

नन्वेवं व्युत्थानकालीने यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोधेऽतिव्याप्तिः । किञ्च वृत्तिविषयक-
बोधस्वरूप एव पुरुष इति वृत्तिविलये तदनुभवरूपः पुरुषोऽपि नश्येत्, काष्ठा-
पायेऽग्निवदित्यत आह—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । तदेत्यनेन योग्य-
ताबलात् सर्ववृत्तिनिरोधरूपोऽसंप्रज्ञातः परामृश्यते । संप्रज्ञाते तदभावस्यो-
त्तरसूत्रारूढत्वात् । तदा सर्ववृत्तिनिरोधे द्रष्टुः ज्ञानस्वरूपस्य स्वरूपे निर्वि-
षयचिन्मात्ररूपत्वे अवस्थानं भवतीत्यर्थः । जपापाये स्फटिकस्येव वृत्त्यपाये
पुरुषस्य वृत्तिप्रतिविम्बज्ञानस्य स्वरूपेऽवस्थानमिति भावः । एवं च तदा वृत्त्यभावा-
त्तदनुगतदुःखादिभोगनिवृत्तिः पुरुषार्थः । पुरुषस्यैतदेव स्वरूपं न बुद्धिवृत्तिविषय-
बोधः । तस्योपाधिकत्वात् । तत्रोपाधिनिवृत्तावप्युपहितानिवृत्तिरिति न तत्राशप्र-
सङ्गः । एवं च द्रष्टुराल्यन्तिकस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगलक्षणम् ।
क्लेशकर्मादिपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो वा । तच्च न व्युत्थानकालिकनिरोध इति न
तत्रातिव्याप्तिः । संप्रज्ञातस्य चासंप्रज्ञातद्वारा स्वरूपावस्थितिहेतुत्वम् । प्रलयकाली-
नस्य समग्रसुप्तिकालीनस्य च निरोधस्य व्यावृत्तये आत्यन्तिकेति । स्वरूपावस्थानं
चौपाधिकरूपनिवृत्तिपूर्वकः स्वरूपाप्रच्यवः । तन्निवृत्तिश्चोपाधिनिवृत्त्येति दिक् ॥३॥

योगकालेऽनर्थनिवृत्तिं प्रदर्श्य कूटस्थमित्यस्याप्ययोगकाले तद्विपर्ययं
दर्शयति—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

इतरत्र वृत्तिकाले वृत्तिसादृश्यं द्रष्टुर्भवतीत्यर्थः । वृत्तीनां सुखदुःखमोहात्म-
कघटाद्याकारतया चैतन्यमपि तत्प्रतिविम्बवशात्तद्रूपमिव भवति । यथा जपा-
लौहित्येन स्फटिकोऽपि लोहित इव भवति तद्वत् । इदमेव द्रष्टुर्वृत्तिसारूप्यं
विषयोपरक्तवृत्तिग्रहणम् । तदा सुखदुःखभोगरूपोऽनर्थोऽपीति भावः । ‘आदानस्य
ग्रहणत्वादभयवहरणस्य च भोगत्वात्’ इति वार्तिके चैतद्गुरुचरणैः प्रसाधितं
प्रपञ्चितं च, अत्र सूत्राभ्यामेतत्सिद्धम् । वृत्तिकाल एव पुरुषस्य दुःखभोगरूपः
संसारो वृत्तिवियोगे च तन्निवृत्तिरूपं कैवल्यमतो वृत्तयो निरोद्धव्या इति ।
इदं च योगस्यापातफलमुक्तम् । मुख्यफलं तु संप्रज्ञातयोगस्य ध्येयसाक्षात्कारः ।
असंप्रज्ञातयोगस्य च तत्त्वज्ञानसाधारणाखिलज्ञानवासनाक्षयेण प्रारब्धमप्यति-
क्रम्याशु मोचनमिति वार्तिककृद्भिः प्रपञ्चितम् ॥ ४ ॥

इदानीमसंप्रज्ञातव्यतिरिक्ते व्युत्थानकाले चिच्छक्तेस्तादृशस्वरूपाया अपि औ-
पाधिकमनर्थयोगं दर्शयति योगे. लोकानां प्रवृत्तये—वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।
इतरत्र योगाभावकाले समानमेकं रूपं यस्य स स्वरूपस्तस्य भावः सारूप्यं
वृत्तिभिः सारूप्यमित्यर्थः । व्युत्थाने हि विम्बप्रतिविम्बरूपयोर्बुद्धिवृत्तिपुरुषवृत्त्योः
सारूप्यम् । वृत्तयोऽपि दीपशिखा इव द्रव्यरूपा भङ्गुराश्चित्तस्य परिणामाः । नचाप-
रिणामिनः पुरुषस्य वृत्तिः, दर्शितविषयत्वात् । बुद्ध्या निवेदितविषयत्वं हि तत्त्वं,
निवेदनं च स्ववृत्त्यारूढविषयस्य प्रतिविम्बरूपेण चितावाधानम् । एवं च ते
प्रतिविम्बा एव तस्य वृत्तयः । तदुक्तं भाष्ये—‘व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयः तदवि-

शिष्टवृत्तिः पुरुषः' इति । प्रतिविम्बोऽपि न स्फटिकवत् किंत्वनिमान एव । एतद्यद्वृत्तिसारूप्यमेव वृत्त्याकारतारूपं तदेवास्यार्थोपरक्तवृत्तिभानं तस्य चाकारोऽयं घट इत्यादिरूप एव नतु वृत्तिबोधस्य पृथगाकारोऽस्ति । घटमहं जानामीत्यादि तु बुद्धेरेवाकारान्तरमिति कश्चित् । ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वादिवममिलाप इत्यन्ये । वृत्त्यभिज्ञैकरूपता चित्तेन सह द्रष्टुरिति भावः । बुद्धिपुरुषयोः संनिधानादभेदग्रहेण तामिरेव वृत्तिभिः पुरुषोऽपि वृत्तिमानिवाकर्तापि कर्तव्यभोक्तापि भोक्तेव दुःखादिमानिव विवेकख्यातिरहितोऽपि तत्सहित इव विवेकाख्यात्वा प्रकाशते । भोक्तृत्वभोग्यतालक्षणसंबन्धश्चानाद्यविद्यानिमित्तकः प्रतिनियतयोरेव बुद्धिपुरुषयोः स्वस्वामिभावोऽनादिरेव । यथा ह्ययस्कान्तः स्वस्मिन्नेवायःसंनिधीकरणात् शल्यनिष्कर्षकतयोपकारी स्वामिनः स्वं भवति भोगसाधनत्वादिवं चित्तमयःसदृशविषयजातस्य स्वस्मिन्संनिधीकरणात् दृश्यत्वमुपकारं जनयन् पुरुषस्य स्वं, भोगसाधनत्वात् । यद्यपि भोग्यभोक्तृभावो न प्रलये तथापि स्वभुक्तवृत्तिवासनावत्त्वादिकमेव बुद्धौ पुरुषस्य स्वत्वं, चित्तस्य कार्यत्वेपि बीजावस्थया नित्यत्वादनादित्वाक्षतिः । तत्सारूप्यमेव चित्तेर्दुःखभोगः । प्रतिविम्बरूपदुःखहानमेव मोक्षः । ये त्वात्मनि मनःसंयोगात्सुखाद्युत्पत्तिरिति वदन्ति तेषां कारणद्वयकल्पनागौरवम् । आत्मनि विषयनिष्ठसुखाद्याकारवृत्तिस्वीकारे परिणामित्वापत्तिश्च । बुद्धावर्धविषयकत्वमर्याकारतैव बुद्धिपरिणामविशेषरूपा नतु तत्प्रतिविम्बः, स्वप्नादौ विषयाभावेन तत्प्रतिविम्बासंभवात् । पुरुषे तु सा परिणामरूपा न संभवतीति प्रतिविम्बरूपैव । वृत्तीनामेव च प्रतिविम्बार्पणसामर्थ्यमिति न संस्कारशेषाया बुद्धेरसंप्रज्ञाते प्रतिविम्बनं, उक्तस्वस्वामिभावस्यैव प्रतिविम्बे नियामकत्वाच्च परबुद्धिवृत्तेः परस्य भानम् । 'यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलस्फटिको जनैः । रज्ज्वाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः' इति स्मृतेश्च प्रतिविम्बस्वीकार इति दिक् । एवं बुद्धावपि चित्प्रतिविम्ब आवश्यकः । अन्यथा कर्तृकर्मविरोधेन चैतन्यभानानुपपत्तिरिति ध्येयम् । उभयत्रोभयाकारबुद्धिपरिणाम एव प्रतिविम्ब इति दिक् ॥ ४ ॥

ननु कियत्प्रकाराः कीदृश्यो वा वृत्तयो निरोद्धव्या इत्याकाङ्क्षायामाह—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

वक्ष्यमाणाः पञ्चप्रकारा एव वृत्तयो निरोद्धव्याः । तासां निरोधेनैव रागद्वेषादिवृत्तीनां स्वयमनुदयात् । ताश्च वृत्तयः क्लिष्टरूपा वा भवन्तु, अक्लिष्टरूपा वा भवन्तु, सर्वा एव निरोद्धव्या इत्यर्थः । 'क्लिष्टास्तामस्योऽक्लिष्टाः सात्त्विक्यो राजस्यश्च । क्लिष्टाक्लिष्टमिश्रवृत्तेरंशाभ्यां तामसीसात्त्विक्योरेवान्तर्भावः । 'रजोमिश्रमि'ति स्मृतेः ॥ ५ ॥

वृत्तीनामियत्तानाह—वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः । वृत्तिसमुदायरूपोऽवयवी पञ्चप्रकारावयवक इत्यर्थः । ते च वृत्तिसमुदायाः चैत्रमैत्रादिचित्तमेदाद्वहव इति बहुवचनम् । धर्माधर्मवृद्धिरूपहेतुशफलिकाः क्लिष्टाः । सत्त्वपुरुषान्य-

तारूपविवेकज्ञानसाधनविषयाः ख्यातिसंज्ञा अक्लिष्टाः । तत्र क्लिष्टानामक्लिष्टाभिर्नि-
रोधोऽक्लिष्टानां च परवैराग्येणेति बोध्यम् । तत्र क्लिष्टान्तर्वर्तिन्योऽप्यक्लिष्टाः क्लिष्टा-
भिरनभिभूताः स्वसंस्कारपरिपाकक्रमेण क्लिष्टा अभिभवन्तीति अक्लिष्टा एव भवन्ती-
ति मिश्राणां नाधिक्यम् । वृत्तिभिः संस्काराः संस्कारैश्च वृत्तय इत्येवं वृत्तिसंस्कार-
चक्रमावर्तते आ निरोधयोगात् । निरोधावस्थं च चित्तं दशवर्षिलसंस्कारं प्रलयं
याति । कृत्यादिलक्षणवृत्तीनां चैतन्निरोधेनैव निरोध इत्याशयेन पञ्चेत्युक्तम् ।
आसां वृत्तित्वं चैतैरेव व्यापारैश्चित्तस्य जीवनात् इति दिक् ॥ ५ ॥

कास्ताः पञ्चप्रकारा वृत्तय इत्यपेक्षायामाह—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

सुगमम् ॥ ६ ॥

तान्पञ्चप्रकारान्दर्शयति—प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः । स्प-
ष्टम् ॥ ६ ॥

प्रमाणाद्याः पञ्चवृत्तीः क्रमेण पञ्चभिः सूत्रैर्लक्षयति—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रसि-
द्धत्वादुपेक्ष्यैव विभागः कृतः । तत्रेन्द्रियद्वारा स्वतो वा मनःसंनिकर्षाज्जायते
याऽनधिगतार्थनिश्चयरूपा वृत्तिः सा प्रत्यक्षं प्रमाणम् । निश्चयत्वं च संशय-
मिज्ञज्ञानत्वम् । अतो नेच्छाकृत्यादिष्वतिव्याप्तिः । इच्छादिषु संनिकर्षस्य हेतुत्वे
प्रमाणाभावात् । अस्य च प्रमाणस्य फलं प्रमा पौरुषेयो बोधः । वृत्तिद्वारैव
हि तदाखण्डोऽर्थश्चित्तौ प्रतिबिम्बते । यद्यपि पुरुषस्वरूपो बोधो नित्यस्तथापि
तत्तद्विषयाविष्टत्वेन तस्य फलत्वं पुरुषाश्रितत्वं च घटते । विषयता च प्रतिबिम्ब-
स्वरूपेति । एवमेवानुमानाद्यखिलवृत्तीनां पौरुषेयो बोध एव प्रयोजनं पुरुषार्थ-
मेव करणव्यापारात्, राजार्थं भृत्यव्यापारवत् । व्याप्यादिवृत्तिजन्या वृत्तिरनु-
मानं प्रमाणम् । योग्यशब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणमिति । एतेष्वेव प्रमाणेषु
परोक्तानामुपमानैतिह्यादीनां प्रवेशः । अत्र प्रमात्रादिविभागो वार्तिककारिकाः—
“प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च । प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतनप्रतिवि-
म्बनम् ॥ प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते । वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः
करणस्यानपेक्षणात् ॥ साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूचितम् । अविका-
रेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः” ॥ ७ ॥

तासां क्रमेण लक्षणान्याह—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । अनधि-
गततत्त्वबोधः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् । अवि-
संवादि ज्ञानं वा प्रमा । तत्रेन्द्रियद्वारा स्वतो वा मनःसंनिकर्षात् जायते यो
विशेषतः पदार्थनिश्चयः तत्करणं वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तत्रेन्द्रियद्वारा निर्गतस्य
चित्तस्येन्द्रियसाहिल्येनैवार्थाकारः परिणामश्चित्तस्य शङ्खपैत्याद्याकारतायां नयनादि-

गतपित्ताद्यन्वयदर्शनात् । अतएव रूपादिवृत्तिषु चक्षुरादीनां करणत्वमुच्यते ।
 वृत्तिश्च—‘अनन्ता रश्मयस्तस्य प्रभावस्यः स्थिता हृदि’ इति स्मृतेः प्रभावद् द्रव्य-
 मेव । निश्चयत्वं च संशयमिन्नज्ञानत्वं तेन नेच्छाकृत्यादिष्वतिव्याप्तिः । स्वतो वेत्य-
 नेन विवेकख्यातिरपि लक्षिता । ‘इन्द्रियप्रणालिकया चित्तवृत्त्याकारस्य बाह्यवस्त्वा-
 कारोपरागात् बाह्यार्थगोचरं सामान्यधर्मविशेषधर्मतादात्म्यापन्नस्याप्यर्थस्य सामा-
 न्यधर्मोपसर्जनकविशेषरूपेण भानम्’ इति भाष्यकृतः । तत्रापीन्द्रियप्रणालिकये-
 त्युपलक्षणम् । अनेनानुमित्यादिषु चित्तवृत्त्याकारेणैव साकारता वृत्तेः सामान्यवि-
 षयकत्वं च दर्शितम् । तदवच्छिन्ने एव व्याप्तिग्रहात् ॥ स्वप्रध्यानादौ चित्तवृत्ति-
 घटाकारस्यैवानुभूयमानत्वात् तत्रापि चित्तवृत्तेर्घटाद्याकारतयानुभवात् चित्ते
 वासनारूपेण सर्वद्रव्यसत्तास्ति । ते हि वृत्तिसामग्र्या स्थूलाकारास्तस्यां भासन्त
 इति दिक् । प्रमाणफलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोध इति भाष्यम् । वृत्तिरूपक-
 रणस्य चित्तवृत्तिसमानाकारः पुरुषरूपो बोधः । तत्र हेतुगर्भविशेषणमविशिष्ट
 इति । चित्तवृत्तिसारूप्यापन्न इत्यर्थः ॥ यद्यपि स नित्यस्तथापि तत्तदाकारवैशि-
 ष्ट्येन फलत्वं पुरुषाश्रितत्वं चेति बोध्यम् । राजार्थे भृत्यव्यापारवत् पुरुषार्थमेव
 करणव्यापारात्तद्वैधस्यैव फलत्वं युक्तम् । वृत्तिश्च प्रदीपशिखावद्बुद्धेरग्रभागः । येन
 चित्तस्यैकाग्रताव्यवहारः । एकमग्रे विषयतया यस्य तद्भावो ह्येकाग्रता ॥ अयं घट
 इत्याकार एव वृत्तेर्बोधः । घटमहं जानामीति बुद्धेर्वृत्त्यन्तरं, चैतन्यस्य स्वप्रकाशत-
 याऽस्यैवामिलापो वा । केचिद्बुद्धौ प्रतिविम्ब एव पुरुषस्य वृत्तिस्तदेव वृत्त्याकार-
 तामापन्नं बोधफलमिति । तन्न । प्रतिविम्बस्य बुद्धिपरिणामरूपतया तुच्छत्वेनार्थ-
 भानरूपत्वानुपपत्तेः । किंच परस्परप्रतिविम्बः स्मृतिसिद्धः । किंच जानामीत्येवं
 बुद्धिवृत्तौ भासमानं प्रतिविम्बचैतन्यं न स्वज्ञेयं संभवति कर्तृकर्मविरोधात् ।
 अतस्तस्या विम्बचैतन्ये भानमावश्यकमिति दिक् ॥

लिङ्गजन्या वृत्तिः सामान्यविषयाऽनुमानम् । आप्तेन तत्त्वदर्शनकारुण्यकरणपा-
 ट्वरूपाप्तिमता स्वयं दृष्टस्य श्रुतस्यानुमितस्य वार्थस्य स्वचित्तवृत्तिज्ञानसदृशज्ञानवि-
 पयतया परचित्ते समर्पयितुमुपदिश्यते यः शब्दस्तज्जन्या तदर्थविषया वृत्तिरागमः ॥
 यत्र वक्ताऽदृष्टश्रुतानुमितार्थत्वेनाश्रद्धेयः स आगमोऽप्रमाणम् । अन्यस्तु प्रमाणम् ।
 मन्वाद्युक्तार्थानामपि तन्मूलवेदवक्ता ईश्वरो दृष्टानुमितार्थ एवेति तेऽपि प्रमाण-
 मेव । वृत्तयस्तु साक्षिभास्याः करणानपेक्षणात् । साक्षाद्दर्शनरूपमेव पुरुषस्य
 साक्षित्वम् । तदुक्तम्—‘प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च । प्रमाऽर्थाकार-
 वृत्तीनां चेतने प्रतिविम्बनम् ॥ प्रतिविम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते ॥ वृत्तयः
 साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात् ॥ साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूचि-
 तम्’ इति ॥ सुखादिमत्यो हि वृत्तयः रूपादिमत्यो भार्या इव पुरुषस्य भोग्या
 इत्युच्यन्ते ॥ ७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

विपर्यय इति लक्ष्यनिर्देशः । मिथ्याज्ञानमिति लक्षणम् । मिथ्येत्यस्य विवरण-

मतद्रूपप्रतिष्ठमिति । न तद्रूपो न स्वसमानाकारो यो विषयस्तद्विशेष्यकमित्यर्थः ।
 भ्रमस्थले च ज्ञानाकारस्यैव विषये समारोपः । “विप्र पृथ्व्यादि चित्तस्थं न
 वहिष्ठं कदाचन । स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयते” इति स्मृतेः ॥
 स्वप्नादिषु चित्तमेव प्रतीयते न वहिष्ठमित्यर्थः । संशयस्यापि विपर्ययेऽन्त-
 र्भावः । अतद्रूपप्रतिष्ठत्ववचनादन्यथाख्यातिरत्र दर्शने सिद्धा न तु सांख्यान-
 मिवाविवेकमात्रम् ॥ ८ ॥

विपर्ययं लक्षयति—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । विपर्यय
 इति लक्ष्यम् । मिथ्याज्ञानमिति लक्षणम् । मिथ्येत्यस्य विवरणमतद्रूपप्रतिष्ठमिति,
 भासमानरूपाभाववद्विशेष्यकमित्यर्थः । यद्वाऽतद्रूपप्रतिष्ठमित्यस्य बुद्धिविषयाका-
 रसमानाकारविषयप्रतिष्ठं नेत्यर्थः । भ्रमस्थले बुद्धिवृत्त्याकारस्यैव विषये आरोप
 इति सिद्धान्तात् । अतः संशयोऽपि मिथ्याज्ञानमेव । मिथ्यात्वेन तज्ज्ञाने
 बाध्यत्वमप्यभिप्रेतम् । अतएव वक्ष्यमाणविकल्पस्य न विपर्ययत्वम् । नेदं
 रजतमिति ज्ञानोत्तरमिदं रजतमिति ज्ञानव्यवहारयोरभावः, शशशृङ्गमिति
 ज्ञानव्यवहारौ बाधज्ञानकालोत्तरमपीति विशेषात् । वस्तुतत्त्वविषयज्ञानेन प्रमाणे-
 नाप्रमाणबाधनं दृष्टम्, एकचन्द्रज्ञानेनेव द्विचन्द्रज्ञानस्य । मिथ्याज्ञाने च दोषः
 कारणम् । सा चाविद्येति वक्ष्यते । भ्रमस्थले बुद्धिरूपचित्तवृत्त्याकारस्यैव विषये
 आरोपः । ‘विप्र पृथ्व्यादि चित्तस्थं न वहिष्ठं कदाचन । स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवा-
 नुभूयते’ इति स्मृतेः ॥ अतद्रूपप्रतिष्ठमिति वचनादन्यथाख्यातिरत्र दर्शन इति ।
 वैशेषिकमतादयं विशेषः—तेषां बाह्यरजतारोपः, अस्माकं त्वान्तरस्येति । अत-
 एव प्राग्दृष्टमिदानीं नास्तीति स्वरूपतो बाधानुभवः ॥ केचित्तु—वस्तुतस्तु अतद्रूपप्र-
 तिष्ठत्वं तद्रूपप्रकारकत्वाभाव इति असंसर्गाविशिष्टं ज्ञानं भ्रम इति मतेऽपि सूत्रं
 सुयोजमिति । विपर्यय एवाविद्यास्मितारागद्वेषामिनिवेशरूपपञ्चपूर्वाऽविद्या ।
 रागादीनामविद्यानुगतत्वादविद्यापर्यायत्वं विपर्ययत्वं च । एषामेव तमोभोहमहामो-
 हतामिसान्धतामिमेति संज्ञा इति दिक् ॥ ८ ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दश्च ज्ञानं च अनुपातिनी यस्य स तथा । तथाच बाधाबाधकाला-
 विशेषेण तदुभयजनकोऽर्थशून्यप्रत्ययो विकल्प इत्यर्थः । विपर्ययश्च बाधोत्तरं न
 खविषयेषु शब्दज्ञाने जनयति । प्रमाणवृत्तिश्चार्थवतीति तयोर्व्यावृत्तिः ।
 अस्योदाहरणानि—राहोः शिरः पुरुषस्य चैतन्यम् । एवं ‘एष वन्ध्यासुतो याति
 खपुष्पकृतशेखरः । मृगतृष्णाभ्रसि स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः’ इत्यादीनि । बाधो-
 त्तरमपि हि तादृशज्ञानैः शब्दज्ञानरूपो व्यवहारः क्रियत इति । वैशेषिकैश्चैता-
 न्याहार्यज्ञानान्युच्यन्ते ॥ ९ ॥

विकल्पं लक्षयति—शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । शब्दवि-

पयकज्ञानमनुपतति तज्जन्यो वृत्तिविशेष इत्यर्थः । अनेन विशेषदर्शनकालेऽपि व्यवहारानिवृत्तेर्विपर्ययाद्भेद उक्तः । वस्तुशून्योऽर्थशून्यः । तेन प्रमाणवृत्तेर्भेद उक्तः । यथा चैतन्यपुरुषयोरभेदेन भेदस्य वस्तुतस्तत्राभावाच्चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति शब्दज्ञानोत्तरं चैत्रस्य गौरित्यादाविव भेदमूलसंसर्गविषया वृत्तिः । यद्वा विवेकि-
नामपि शब्दप्रयोगज्ञानयोजनकस्तदारोपो विकल्पः । [भेद एव च व्यपदेशशब्दे-
नोच्यते विशिष्टोऽपदेशो व्यवहारो यस्मादिति व्युत्पत्तेः ।] राहोः शिरो बन्ध्यासुत
इत्यादि चोदाहरणम् । (?) यथा वाणस्तिष्ठतीति । अत्र हि गतिनिवृत्तिः
प्रतीयते । तत्राभावो नाम् (न) कश्चिदर्थस्तस्माद्वृत्तिनिवृत्तिः कल्पिता । तस्या अपि
भावरूपत्वं तत्रापि पूर्वापरीभाव इति कल्पनापरम्परा । पूर्वापरीभूतकर्मक्षणप्रचयस्यै-
वैकफलावच्छिन्नस्य धात्वर्थत्वादिति दिक् । अन्यैरेतान्याहार्यज्ञानानीत्युच्यन्ते ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

प्रकृतत्वादुक्तवृत्तीनां योऽभावोऽनुत्पादः तस्य प्रत्ययः कारणं तमः तदा-
लम्बना तद्विषयिणी तमःप्रचुरचित्तविषयिणीति यावत्, एवंभूता वृत्तिर्नि-
द्रेत्यर्थः । जाग्रत्स्वप्नस्य (स्थ) वृत्त्युपरमे चित्तस्य स्वगतसुखादिविषयिणी नि-
द्राख्या वृत्तिरनुमीयते । सुखमहमस्वाप्सं दुःखमहमस्वाप्सं गाढं मूढोऽहम-
स्वाप्समित्येवं सात्त्विकादिनिद्रोत्थितानां त्रिविधस्मरणादतोऽपि निद्रा वृत्तिरिति ।
शुद्धतार्किकास्तु इमामपि वृत्तिं स्वप्नमध्ये प्रवेशयन्ति । सुषुप्त्यवस्थां तु ज्ञान-
शून्यत्वरूपां ज्ञानकारणाभावादेवेच्छन्ति । अस्माभिरपि सर्ववृत्तिशून्याप्यवस्था
स्वीक्रियत एव । तस्यां च गाढं तमो दोष इष्यते । “सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा
स्त्वापमादिशेत् । प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु संततम्” इति स्मृतेः ।
इन्द्रियाद्युत्पत्तेः प्रागेव हिरण्यगर्भस्य ज्ञानोत्पत्त्या न ज्ञानसामान्ये त्वज्ज्ञानोयो-
गादीनां हेतुत्वकूटिसंभवो येन ज्ञानकारणाभावादेव सावस्थोपपाद्येतेति ॥ १० ॥

निद्रां लक्षयति—अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा । प्रकृतत्वादुक्तानां
वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः कारणं बुद्ध्यावरकं तमः तदालम्बना स्वपिमीत्याकारा
आवरकतमोविषया च तदाच्छादितचित्तगतसुखादिविषया वृत्तिः सा निद्रे-
त्यर्थः । पुनर्वृत्तिपदं निद्राया वृत्तित्वे बहूनां विप्रतिपत्तेस्तद्वाच्यम् । ‘जाग्रत्स्वप्नः
सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः’ इति स्मृतेश्च । तदुद्भूततमआच्छादितबुद्धिसत्त्वस्य
बाह्यवृत्त्यभावात् तद्गुणसुखादीन्यवबुध्यमानः पुरुषोऽन्तःसंज्ञ उच्यते । नच वृत्त्य-
भाव एवास्तु, सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः, दुःखमहमस्वाप्समकर्मण्यं
मे मनो यतो भ्रमत्यनवस्थितम्, मूढोऽहमस्वाप्सं गुरुणि मे गात्राणि
अलसमिव मे चित्तमिति सुप्तोत्थितस्य स्मरणानुभवात् । अनुभवाभावे हि
कथं स्मृतिः स्यात् । तदन्यतमग्रहणे नियामकं त्वदृष्टाद्येवेति बोध्यम् । अतएव
‘त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्’ इति श्रुत्या तत्रापि भोग्यमुक्तम् ।
यत्तु ‘न तद्विभक्तमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्’ इति श्रुत्या सुषुप्ते ज्ञानसा-
मान्याभाववचनं तत्समग्रसुषुप्तिपरं, यत्रायमनुभवः ‘सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चि-

दवेदिषम्' इति । 'मुग्धेऽर्धसंपत्ति'रिति वेदान्तसूत्राच्च तत्र 'सुखम्' इत्यस्य वृत्त्युत्थ-
दुःखरहितमित्यर्थः । यत्तु सुषुप्तौ तमः साक्षिभास्यमेवेति । तत्र । साक्षिणोऽपरि-
णामित्वेन संस्कारस्मृत्योरसंभवात् । एषा चैकाग्रतुल्यापि तामसत्वाद्योगपरिपन्थि-
नीति । यत्तु त्वद्धनोयोगरूपकारणाभावात्सुषुप्तौ ज्ञानसामान्याभाव इति । तत्र ।
इन्द्रियाद्युत्पत्तेः प्रागेव हिरण्यगर्भस्य ज्ञानोत्पत्त्या ज्ञानसामान्ये तस्य हेतुत्वाभा-
वात् । गाढतमोरूपदोषेण सर्ववृत्त्यभावस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात् ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

भूतौ पूर्वमनुभूतौ यौ विषयौ वृत्तितदारूढार्थौ तयोर्नास्ति संप्रमोषः स्तेयमपहारो
यस्मात्प्रत्ययात्स प्रत्ययः स्मृतिरित्यर्थः । प्रमुष्टतत्ताके शब्दजन्यपदार्थोपस्थित्यादौ
स्मृतिव्यवहाराभावात्, स घटः स घट इत्यादिप्रत्यय एव स्मृतिशब्दवाच्य इत्या-
शयः । तत्र स इति पूर्वोपस्थितिरपि भासत एवेति । अत्र प्रत्यभिज्ञाव्यावृत्तये
संस्कारमात्रजन्यत्वं विवक्षणीयम् । प्रमुष्टतत्ताकं स्मरणं त्वनुभवमध्ये प्रवेशनी-
यम् । अनेन सूत्रेण मुख्यस्मृतिरेव लक्षिता । प्रमाणेत्यादिवृत्तिविभागसूत्रे तु
संस्कारमात्रजन्यगुणत्वेन प्रमुष्टतत्ताकमपि तज्ज्ञानं स्मृतिशब्देन गृहीतमिति न
विभागन्यूनता । निरोद्धव्या वृत्तयो व्याख्याताः ॥ ११ ॥

स्मृतिं लक्षयति—अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः । अनुभूतविष-
यादधिकस्य संप्रमोषः स्तेयं परिग्रहो यत्र नास्ति सा वृत्तिः स्मृतिरित्यर्थः ।
अनुभूतविषयादनधिकविषयेति यावत् । एवं चानुभवसमानविषया प्रायः, कदा-
चिन्न्यूनविषया, सर्वथा नाधिकविषयेति तात्पर्यम् । तत्र घटमहं जानामीत्यनु-
व्यवसायरूपानुभवस्य विषय—वृत्तिरूपज्ञानोभयविषयकत्वात्, संस्कारस्य तादृशस्यैव
जननात् तदुभयविषयैव स्मृतिरिति भाष्ये स्पष्टम् । अयं घट इति पूर्वानुभ-
वतस्तत्समानविषयकस्य स घट इत्येव स्मरणस्यानुभवात् । व्यवसायतः
संस्कारसत्त्वेऽपि तज्जन्यस्य भाष्यकृता स्मृतिवानभ्युपगमात् । प्रमुष्टतत्ताकस्य
शब्दजन्यपदार्थोपस्थित्यादिरूपस्य स्मरामीत्य(न)नुभवेनानुभवमध्ये एव प्रवेश इति
कश्चित् ॥ अस्मदुक्तव्याख्याने तु तस्यापि स्मृतित्वे न दोषः ॥ वस्तुतो व्यवसा-
योऽपि उभयाकारनिर्भास उभयोरपि चित्तिप्रतिबिम्बनादिति बोध्यम् । अतएव
घटमहं जानामीति ज्ञानविशेष्यकोऽनुभवः । स घट इति ग्राह्यविषयविशेष्यकं
स्मरणम् । पूर्वानुभूतत्वेन तत्तावृत्तेर्विषयविषयकसंस्कारजनकत्वात्स्वविषयकसंस्का-
रजनकतेति भाष्याशयः । तत्रानधिगतार्थविषयोऽनुभवः । वृत्त्यन्तरगोचरार्थ-
विषया स्मृतिरिति भेदः । नच स्वप्ने देशकालान्तरानुभूतस्य पित्रादिदेशकालान्तरसं-
वद्धतया स्मरणेन तत्रापि संप्रमोषोऽस्त्येवेति चेत् । न । कल्पितस्मर्तव्यविषयत्वेन
तस्य विपर्ययात्मकत्वात् । प्रमाणाभासे प्रमाणव्यवहारवत् स्मृत्याभासत्वेन स्मृति-
व्यवहारोऽन्येषाम् । यदाप्यनुभूतार्थमात्रविषयः स्वप्नस्तादापि प्रत्यक्षायमाणत्वेन
भानादितरस्मृतिवैलक्षण्येन विपर्ययतैव तस्येति बोध्यम् । ईदृशस्मृतित्वमेवाभ्युपेत्य

स्वप्नरूपा स्मृतिर्भाषितस्मर्तव्येत्युक्तम् । भाषितत्वेन सूचितः स्मर्तव्योऽर्थो यथे-
त्यर्थः ॥ अयमप्युत्तर्ग इति द्रष्टव्यम् । आसां च वृत्तीनां सुखदुःखमोहात्मकत्वा-
ल्लेशरूपतया एता निरोद्धव्या इति दिक् ॥ ११ ॥

इतः परं निरोधोपाय उच्यते—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

वक्ष्यमाणाभ्यासवैराग्ये ताभ्यां मिलिताभ्यां चित्तवृत्तिनिरोधो भवतीत्यर्थः ।
तत्र चित्तनद्या वैराग्येण विषयमार्गं वृत्तिस्रोतः प्रतिवध्यते । विवेकदर्शना-
भ्यासेन च विवेकमार्गं वृत्तिस्रोत उद्वाह्यते । आभ्यां व्यापाराभ्यां निरोधाख्ये
कैवल्याब्धौ चित्तनदी विलीयते । इत्युभयाधीनो वृत्तिनिरोधः ॥ १२ ॥

अथासां निरोधे उपायमाह—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । वक्ष्य-
माणलक्षणाभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इत्यर्थः । तत्र चित्तनद्या विषयमार्गं
वृत्तिस्रोतः विषयदोषदर्शनजेन वैराग्येण प्रतिवध्यते । विवेकदर्शनाभ्यासेन च
विवेकमार्गं वृत्तिस्रोत उद्वाह्यते । तेन च ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहस्य बलवत्त्वं
दार्ढ्यं चेति उभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ आभ्यां विनिवृत्तवाह्यामिनिवेशानां
चित्तवृत्तीनामन्तर्मुखतया स्वकारणे चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थाने सति निरोधाख्ये
कैवल्याब्धौ चित्तनदी विलीयत इति दिक् ॥ १२ ॥

अभ्यासवैराग्ये क्रमेण लक्षयति सूत्रवर्गेण—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

तत्र तयोर्मध्ये स्थितौ विवेकपर्यन्तं चित्तस्थैर्यार्थं प्रयत्नो वक्ष्यमाणानां
श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञारूपसाधनानां पुनःपुनरनुष्ठानमभ्यास इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अभ्यासं लक्षयति—तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । तत्र तयोर्मध्ये राजस-
तामसवृत्तिरहितस्य सात्त्विकमात्रवृत्त्येकाग्रता स्थितिस्तत्र तन्निमित्तं तत्संपादनेच्छया
तत्साधनविषयानुष्ठाने या यत्नधारा सोऽभ्यास इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अनुष्ठानाय अभ्यासस्य दार्ढ्यमपि लक्षयति—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

स तु अभ्यासो दीर्घकालेन सेवितो नैरन्तर्येणाव्यवधानेन च सेवितस्तपो-
ब्रह्मचर्यादिरूपैः सत्कारैश्च सेवितो दृढभूमिर्भवति । व्युत्थानसंस्कारेणानभि-
भूतां स्थितिं जनयतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

तस्यैव व्युत्थानसंस्कारेण अनादिनाऽप्रतिबन्धाय विशेषमाह—स तु दीर्घ-
कालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः । सः अभ्यासो दीर्घकालेन
सेवितो नैरन्तर्येण सेवितो ब्रह्मचर्येण श्रद्धातपआदिभिः सत्कारैश्च सेवितो दृढभूमि-
व्युत्थानसंस्कारानभिभूतो भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

योगहेतुवैराग्ययोर्मध्ये प्रथममपरवैराग्यं लक्षयति—

**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा-
वैराग्यम् ॥ १५ ॥**

अपरवैराग्यं तावच्चतुर्विधम्—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति । तत्र दृष्टेष्वाहिकेषु विषयेषु, आनुश्रविकेषु अनुश्रवाख्य-वेदोक्तेषु विषयेषु स्वर्गादिषु, वितृष्णस्य आद्यवैराग्यत्रययुक्तस्य चित्तस्य जायमाना या वशीकारसंज्ञा सा योगहेतुवैराग्यमपरमित्यर्थः । वैराग्यान्तरस्य परतया वक्ष्यमाणत्वात् । अयं भावः । यतमानादिवैराग्ये सत्यपि वशीकारं विना विषयसंनिध्ये योगभ्रंशो भवति । अत आद्यवैराग्यत्रयाभ्यासादुत्पद्यमाना वशीकारसंज्ञैव योगहेतुरिति । वैराग्यचतुष्टयं तन्त्रान्तरे प्रोक्तं तद्यथा—“ज्ञानपूर्वक-वैराग्यसाधनानां दोषदर्शनादीनामनुष्ठानं यतमानसंज्ञात्वेन परिभाषिता वितृष्णा प्रथमा भूमिका । जितान्येतानीन्द्रियाणि, एतानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणयोग्यता द्वितीया भूमिका । बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागद्वेषादिक्षये सति, एकस्मिन्नेव मनसि मानादिविषयकरागद्वेषाद्यपसारणं तृतीया भूमिका । प्रकृष्टविषयसंनिध्येऽपि रागादिवासनानुद्बोधश्चतुर्थी भूमिका वशीकारसंज्ञा वितृष्णेति ॥ १५ ॥

तत्रादावपरवैराग्यमाह—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा-वैराग्यम् । अपरवैराग्यं तावच्चतुर्विधम् । यतमानसंज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रियसंज्ञा वशीकारसंज्ञा च ॥ तत्र वैराग्यसाधनानामर्जनरक्षणक्षयहिंसाद्यनन्तदोषदर्शनादीनां ज्ञानपूर्वमनुष्ठानमाद्यम् । ‘विरक्तिर्दोषदर्शनात्’ इति स्मृतेः ॥ जितान्येतानीन्द्रियाणि एतानि जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणं द्वितीयम् । बाह्येन्द्रियविषयेषु रागद्वेषादिक्षये सति एकस्मिन्नेव मनसि मानापमानादिविषयकरागद्वेषाद्यपसारणं तृतीयम् । एतन्नितयाभ्यासेन, हि विषयसंयोगेऽपि दोषदर्शनमप्रतिवद्धं जायते ‘वैराग्याद्दोषदर्शनम्’ इति स्मृतेः ॥ चतुर्थलक्षणमिदं सूत्रम् । दृष्टेष्वाहिकेषु सूत्रपानैश्वर्यादिषु आनुश्रविकेषु वेदप्रतिपादितेषु स्वर्गकरणलीनत्वप्रकृतिलीनत्वाणिमाद्यष्टैश्वर्यादिषु वितृष्णस्य संनिहि(ता?) तेषु रूपादिषु मानापमानादिषु चाक्षुब्धस्याऽऽद्यवैराग्यत्रययुक्तस्य चित्तस्य या वशीकारसंज्ञा प्रकृष्टविषयसान्निध्येऽपि तेषूपेक्षाबुद्धिर्ममैवैते वश्या नाहमेवामिति च या बुद्धिस्तत्संज्ञकं वैराग्यमित्यर्थः । नतु रागाभावमात्रं विषयासान्निध्येन रागाभावे विरक्तत्वापत्तेः । आद्यवैराग्यत्रयवतोऽपि विषयसान्निध्ये योगभ्रंशो भवतीति चतुर्थवैराग्यमेव योगहेतुरिति भावः ॥ १५ ॥

परवैराग्यं लक्षयति—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

तदिति वैराग्यं परामृश्यते । पुरुषख्यातेरात्मद्वयान्यतरसाक्षात्काराद्धेतोरुत्पद्यमानं सकलगुणेष्वात्मोपकरणेषु वैतृष्ण्यमलंबबुद्धिः परं श्रेष्ठं वैराग्यमित्यर्थः । पूर्वसूत्रे विषयदोषदर्शनजं विषयेष्वेव वैराग्यमुक्तम्, नतु ज्ञाने तत्साधने च । तदानीं च ज्ञानेऽपि विनाशित्वादिदोषदर्शनसाम्येऽपि नालंबबुद्धिरूपं वैराग्यं

संभवति, अविद्यानिवृत्त्याख्यप्रयोजनवत्त्वात् । अत्र सूत्रे ज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्यादौ सिद्धे तेनैव दोषदर्शनेनात्मतत्त्वदृष्ट्या च ज्ञानसाधनेष्वात्मतृप्त्योपेक्षोच्यत इति वैराग्ययोर्भेदः । एतस्मिन्नेव च वैराग्ये सति कैवल्यनियमो, न पूर्ववैराग्य इत्यतोऽस्य परत्वम् ॥ १६ ॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । उक्तवैराग्यवतो दृढतरगुणपुरुषविवेकज्ञानाद्धर्ममेघसमाधिरूपाद्धेतोरुत्पद्यमानं सकलगुणेष्व्वात्मोपकरणेषु गुणरूपायां सत्वपुरुषान्यताख्यातौ च यद्वैतृष्ण्यं चित्तस्य ज्ञानप्रसादावस्थानिष्पन्नात्मज्ञानतारूपा तत्परमुत्कृष्टं वैराग्यमित्यर्थः । (पूर्व) विषयेष्विव ज्ञानेऽपि विनाशित्वादोषदर्शनसत्त्वेऽपि अविद्यानिवृत्त्याख्यप्रयोजनवशेन तत्र नात्वंद्विरूपं वैराग्यम् । सम्यग्ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तौ च तेनैव दोषदर्शनेन तत्राप्युपेक्षारूपं वैराग्यमिति भावः । यदुत्तरं निर्विषयज्ञानप्रसादमात्ररूपोऽसंप्रज्ञातः समाधिरिति तात्पर्यम् । अस्मिन्नेव वैराग्ये सति ऐहिककैवल्यनियमः ॥ १६ ॥

योगस्य प्रकृष्टं साधनं निर्दिष्टम् । इदानीं योगस्यावान्तरविभाग उच्यते सूत्रैः—

वितर्कविचारानन्दासितानुगमात्संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥

साक्षात्कारविशेषरूपैर्वितर्कादिभिरनुगमाद्धेतोः सम्यक्प्रज्ञावत्त्वेन संप्रज्ञातनामा योगो भवति चतुर्विध इत्यर्थः । एकस्मिन्नेव चतुर्भुजादिव्यष्टिसमष्टिसंघातरूपालम्बने चतुर्विधः संप्रज्ञातः क्रमेण भवति । तत्र भूतेन्द्रिययोरश्रुतामताशेषविशेषसाक्षात्कारे वितर्कपरिभाषा । तेन च फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधो वितर्कानुगत उच्यते । तथा तत्रैवालम्बने कारणत्वेनानुगता ये प्रकृतिमहदहङ्कारतन्मात्ररूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्माद्यर्थास्तद्रताशेषविशेषसाक्षात्कारे विचारसंज्ञा । तेन च फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधो विचारानुगतः । तथा तत्रैवालम्बने यश्चतुर्विंशतितत्त्वानुगतः सुखरूपः पुरुषार्थोऽस्ति, तद्रताशेषविशेषसाक्षात्कारे आनन्दसंज्ञा । तेन च फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधो आनन्दानुगतः । यद्यपि दुःखमोहादिधर्मजातं त्रिगुणात्मकं सकलवस्तुष्वस्ति तथापि सुखरागेणैव संसारादात्मनो बन्धाच्च तदेव मुख्यतो द्रष्टव्यम् । यथा तत्र दोषदर्शनेन योगजसिद्धिष्वपि वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योग उपदिष्टः । तथा तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषद्वयमस्ति तदन्यतरस्याशेषविशेषसाक्षात्कारे अस्मितासंज्ञा । तेन च फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधोऽस्मितानुगत इति । आसु च संप्रज्ञातभूमिकासु उत्सर्गतः क्रमोऽप्यस्ति । स्थूलादिक्रमेणैव परमसूक्ष्मपर्यन्तं चित्तसमाधानसंभवात् । यस्य त्वीश्वरानुग्रहवशादादावेवोत्तमभूमिकालाभो भवति तस्य पूर्वपूर्वभूमिषु योगो नापेक्ष्यत इति संप्रज्ञातस्वरूपं विभागश्चोक्तः ॥ १७ ॥

अथ संप्रज्ञातविभागमाह—वितर्कविचारानन्दासितानुगमात्संप्रज्ञातः । साक्षात्कारविशेषरूपैर्वितर्कादिभिरनुगमात् उपधानात्संप्रज्ञातश्चतुर्विधः । सम्यक् संशयविपर्ययराहित्येन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्वरूपं येन स संप्रज्ञा-

तसमाधिः भावनाविशेषः । स सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च । भावना च भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनःपुनर्निवेशनम् । वितर्कादीनां क्रमेण निरोधस्यापि क्रमः । उच्चारोहे क्रमिकसोपानपरंपरावत् । स्वतो निरोधे क्रमाभावात् । वितर्कादिक्रम औत्सर्गिकः । एकदा चित्तस्य परमसूक्ष्मे प्रवेशस्य प्रायः शोऽसंभवात् । 'स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मं शनैर्नयेत्' इति स्मृतेः । किञ्च स्थूलादिविषये रागे उत्तरोत्तरभूमौ चित्तसमाधानासंभवः । अतः स्थूलादिसाक्षात्कारेण तत्र तत्र दोषदृष्ट्योत्तरोत्तरभूम्यारोहः । यदि तु कस्यचिदीश्वरप्रसादादावेवोत्तरभूम्यारोहो भवति तेन पूर्वभूमिकाभ्यासस्तत्तिद्विकामनां विना न कार्यः । एतच्च भूमिकाचतुष्टयमेकस्मिन्नेवालम्बने कर्तव्यम् । अन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः, चित्तचाञ्चल्यदोषापत्तेश्च । तथाहि—यद्विराट्शरीरं चतुर्भुजादिकं वा स्वशरीरं वा पुरुषेश्वरसहितं जडचतुर्विंशतितत्त्वैः प्रकृत्या पुरुषेण च षड्विंशतितत्त्वसंघातं समष्टिव्यष्ट्यात्मकमालम्बनमधिकृत्य प्रथमं भावना प्रवर्तते तदालम्बनं, तत्रालम्बने स्थूलयोर्महाभूतेन्द्रिययोर्विद्यमानानामशेषविशेषाणामतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोषाणामदृष्टाश्रुतामतानामपि पूर्वापरानुसंधानेन शब्दाद्योल्लेखेन च भावनया यः साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते । तेन फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधो वितर्कानुगत इत्युच्यते । तत्रादृष्टाश्रुतामतानां पूर्व चिन्तनासंभवेऽपि योगबलेनैवोत्तरोत्तरं तेषां साक्षात्कारो भवति । तस्यैव पुनः सवितर्कनिर्वितर्काख्यौ भेदौ वक्ष्यति । वितर्के विपरीततर्कणं शब्दार्थज्ञानविकल्परूपमित्यग्रे स्फुटम् । अत्र स्थूलसाक्षात्कारे तप्तायःपिण्डवदेकीभावेन पुरुषपर्यन्तानां भानमुत्तरे च पूर्वपूर्वहानिरिति भाष्ये स्पष्टम् । जपादिजन्यात् ध्रुवादीनां चतुर्भुजादिसाक्षात्काराच्चायं विलक्षणः । तेषां हि तपोध्यानादितुष्टः परमेश्वरः स्वयं शरीरं निर्माय पुरः प्रकटीभूय वागादिव्यवहारं चक्रे । योगिनस्तु योगबलेन वैकुण्ठश्चेतद्वीपादिस्थमेव तच्छरीरमन्यत्रस्थिताः पश्यन्ति, तद्गतं बाह्याभ्यन्तरगुणदोषादिकमतीतादिरूपं पश्यन्तीति विशेषः । ततस्तत्रैवालम्बने दोषज्ञानेन स्थूलाकारदृष्टिं त्यक्त्वा कारणत्वेनानुगता ये तन्मात्रार्हकारप्रकृतिरूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्मा अर्थोक्तेषु क्रमेण धारणादित्रयेण यस्तद्गतशेषविशेषसाक्षात्कारः स विचारः, विशेषेण चरणं सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तं यत्रेत्यर्थात्तदुपहितो विचारानुगतः । अस्य सविचारनिर्विचाररूपौ भेदौ वक्ष्यति । नच स्थूलालम्बने कथं सूक्ष्मदृष्टिर्यथार्था । सर्वेषां षड्विंशतितत्त्वकार्यतया कार्यकारणयोश्चाभेदेन षड्विंशतितत्त्वरूपत्वात् । तत्रापि कार्यरूपताऽस्थिरा कारणरूपतैव च सत्या । नचैवमप्यदृष्टस्य कथं भावना, श्रुतमतप्रकारतयैव सामान्यतो भावनासंभवात् । अश्रुतामतविषयस्य च योगजधर्मबलेनैव साक्षात्कार एवं सर्वत्र बोध्यम् । ततस्तत्रैवालम्बने तामपि दृष्टिं दोषदर्शनेन त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगतसुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकारः स आनन्दः ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात् तदुपहितः सानन्दः । यद्यपि सुखबहुःखमोहावपि सर्वत्र तथापि सुखरागेणैव संसारादात्मदर्शनप्रतिबन्धाच्च तदेव मुख्यतोऽशेषविशेषतो योगेन द्रष्टव्यम् । यथा तत्र दोषदर्शनेन दुःखदृष्ट्या

योगजसिद्धिष्वपि वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योगोपदेश इति बोध्यम् । तत्त आनन्दपर्यन्तं दोषदर्शनेन विरज्य तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषद्वयमस्ति तदन्यतरस्य कूटस्थचिन्मात्ररूपस्य जडेभ्यो विवेकेन य आत्माकारः साक्षात्कारः सोऽस्मिता, देहादिभिन्नोऽस्मीत्येतावन्मात्राकारत्वादस्मीत्येतावन्मात्राकारत्वाद्वा । इतः परं ज्ञातव्याभावादेषा चरमभूमिका । अत्रास्मिताशब्देन विविक्तचेतनाकार-मात्रतोपलक्ष्यते । तेनादीनभावेन(?)य ऐश्वर्यचेतनतत्त्वसाक्षात्कारस्तस्यापि संग्रहः । तदनुगतोऽस्मितानुगतः । अस्यैव परा काष्ठा धर्ममेघसमाधिरित्युच्यते । यस्योदये ज्ञानेऽप्यलंप्रत्ययरूपपरवैराग्यं जायते । तत्र पूर्वं जीवात्मविषयास्मिता । तत-स्ततोऽपि सूक्ष्मा परमात्मविषया । जीवस्वरूपज्ञानं हि प्रत्यक्षं तत्रैव परिच्छि-न्नकूटस्थत्वादिज्ञानस्यैव तत्साक्षात्कारत्वात् । अयमेव सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिश-ब्देनोच्यते । पारमेश्वरयोगस्तु कौर्म उक्तः—‘यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् । मामेकं स महायोगो भाषितः पारमेश्वरः । यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्’ इति । कारणरूपेण विभुत्वेन च सर्वत्रानुगमादस्मिताया अचेतनघटाद्यालम्बनेष्वपि संभव इति दिक् । चलारोऽप्येते सालम्बनाः सर्वाजा इति चोच्यन्ते ध्येयरूपालम्बनयोगाद्वृत्तिवीजसंस्कारोऽन्तत(?)श्चेति ध्येयम् ॥ १७ ॥

असंप्रज्ञातस्वरूपमुच्यते—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानलक्षणयापि वृत्त्या विरम्यतामिति प्रत्ययः, ज्ञानेऽप्यलंबुद्धिः पर-वैराग्यम् । तदभ्यासात्पौनःपुन्याज्जायते यः संस्कारमात्रावशेषो वृत्तिनिरोधः स संप्रज्ञातादन्योऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः । संस्कारमात्रशेष इत्यनेन मोक्षकालीननिरोध-व्यावृत्तिः । असंप्रज्ञाते व्युत्थानार्थं वृत्तिसंस्कारमात्रं तिष्ठति न तु वृत्तिः । मोक्षे तु चित्तस्यात्यन्तविलयात्संस्कारोऽपि न तिष्ठतीति विशेषः ॥ १८ ॥

असंप्रज्ञातमाह—विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः । तत्त्व-ज्ञानलक्षणवृत्तेरपि विरामोऽस्तु इति ‘नेतिनेति’ इत्युदीरितो यः प्रत्ययो ज्ञानेऽप्यलं-बुद्ध्यात्मा परवैराग्यरूपस्तस्याभ्यासात्पौनःपुन्याज्जायते यः संस्कारमात्रावशेषो वृत्तिनिरोधः स संप्रज्ञातादन्योऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः । संस्कारमात्रशेष इत्यनेन मोक्ष-कालिकनिरोधव्यावृत्तिः । असंप्रज्ञाते हि संस्कारमात्रं चित्तं तिष्ठति न तु वृत्तिः । मोक्षे तु चित्तस्यात्यन्तं विलयात्संस्कारोऽपि न तिष्ठतीति विशेषः । विरामप्रत्यया-भ्यासेन पूर्वसंस्कारनाशेऽपि तज्जन्यसंस्कारस्य शेषः । तज्जन्या वृत्तिस्तु नाग्रे । तत्र चित्तस्य संस्कारमात्रयुक्तस्य योगयन्त्रितस्यावस्थानम् । सुषुप्तौ तु लय इति विशेषः । सर्वसंगविवर्जितत्वेन निःशेषक्लेशराहित्येन च त्वमर्थशोधनं योगसिद्धान्तः । ततस्तत्पदार्थशोधनपूर्वकं वाक्यार्थनिष्ठता वेदान्तशास्त्रगम्या । तच्छोधनोपयुक्तल-मात्रेणानेकत्ववादो जीवानामानन्दरूपत्वाभावश्चात्रोक्तो न तु वास्तव इत्यविरोधः । असंप्रज्ञातयोगवतः प्रारब्धवशाद्भ्युत्थानेऽपि वृत्त्यभाव एव वृत्तिजनकसंस्काराणां नाशादिति दिक् ॥ १८ ॥

असंप्रज्ञातं द्विधा विभजते सूत्राभ्याम्—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेहानां प्रकृतिलयानां च असंप्रज्ञातो भवप्रत्ययसंज्ञको भवति । भवो जन्मैव प्रत्ययः कारणं यस्येति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । देहनैरपेक्ष्येणैव बुद्धिवृत्तिमन्तः सिद्धा विदेहा इति विभूतिपादे भाष्यकारैरुक्तम् । ते च महदादयो देवाः, तेषां न साधनानुष्ठानम् ॥ १९ ॥

स च द्विधा भवप्रत्यय उपायप्रत्ययश्च । तत्रायं लक्षयति—भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् । विदेहाश्च प्रकृतिलयाश्चेति द्वन्द्वः । तत्र विदेहाः स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिलव्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः । ते हि भूतेन्द्रियतन्मात्राहंकारमहतामन्यतमदात्मत्वेन प्रतिपद्य तदुपासनया तद्वासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं तदन्यतमे लीनाः संस्कारमात्रशेषमनसः स्थूलदेहरहिता अवृत्तिकत्वात्कैवल्यमिवानुभवन्ति, प्राप्तावधयस्तु पुनः संसारे विशन्ति । यथा वर्षा-तिपाते मृद्रूपा मण्डकाः पुनर्वर्षासेकेन मण्डकदेहमनुभवन्ति तद्वत् । ते हि दैनंदिनप्रलये कदाचिच्च सर्गकालेऽपि स्वसंस्कारमात्रोपगतेन चित्तेन संस्कारशेषेण निरोधावस्थेन कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्तः प्राप्तेऽवधौ व्युत्थानकाले देवभावप्रापकसंस्कारेण तद्भावं प्राप्य तत्फलमैश्वर्यादिकं ततो भुक्त्वा मुच्यन्ते । ‘दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकाश्च शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥ बौद्धा दश-सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः’ इत्युक्तेः । तेषां च एतदेहपातानन्तरं स्वस्वाधिकारावसरे प्रादुर्भावरूपजन्ममात्रकारणकत्वाद्भवप्रत्ययः । भवो जन्म प्रत्ययः कारणं यस्येत्यर्थात् । प्रकृतिलयाश्च प्रकृत्युपासनया तच्छब्दलेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं मित्वा महत्तत्त्वपर्यन्तावरणान्यतीत्य प्रकृत्यावरणं गताः तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं तत्र लीनास्तेऽपि साधनानुष्ठानं विनैव तत्राविर्भावरूपाज्जन्मत एव तथाविधा भवन्ति । ‘पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः’ । इत्यवधिसमाप्तौ पुनः देवादिसंसारे विशन्ति । ततो मुच्यन्ते प्राग्वत् । तत्स्थास्तु विवेकख्यातेरभावात्साधिकारचेतसः कैवल्यपदमिवानुभवन्ति स्थूलदेहवृत्तिसजातीयवृत्त्यभावात् । अत एवेन्द्रियाद्युपासकानामिन्द्रियाद्यभिमानिसूर्यादिप्राप्तेः फलत्वेन श्रवणम् । अयं चैषां विदेहेभ्यो विशेषः—तेषामल्पमैश्वर्यं मलिनश्च विषयः । एते च तेषामपीशाः स्वसंकल्पमात्रेण निर्मलसत्त्वविषयभोगा ईश्वरकोटय इत्युच्यन्ते । प्रलये प्रकृतिलीनत्वात्स्वतन्त्रा न गृह्यन्ते तस्य पुरुषार्थत्वात् । एवंच ते संसारप्राप्तिहेतुतया हेया इति भावः ॥ भवप्रत्यय इति पदं तन्त्रेण पृष्टीतपुरुषार्थकमपीति बोध्यम् ॥ १९ ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

इदानीं मुख्यमुपायप्रत्ययमाह—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इत-

रेषाम् । इतरेषां प्रकृतिलयान्तातिरिक्तानां श्रद्धाद्युपायजन्य एवासंप्रज्ञातो न जन्ममात्रादित्यर्थः । श्रद्धा आस्तिक्यबुद्ध्या विवेकख्यातियोगोत्कण्ठा । सा प्रतिबन्धसहस्राण्यपि तिरस्कृत्य भोगसंगाद्योगिनं रक्षति समर्था मातेव । तन्मूलकं विवेकार्थिनो वीर्यं तद्विषया धारणा । वीर्याच्च स्मृतिर्ध्यानम् । ध्यानाच्च समाधिर्ध्येयसाक्षात्कारफलकः । ततो ध्येयसाक्षात्काररूपः संप्रज्ञातो भवति । स एव तत्त्वसाक्षात्कारो धर्ममेघसमाध्यवस्थां परां काष्ठामागतो रजस्तमसोरुन्मूलनेन प्रवर्धमानो विषयावयवदर्शी समस्तविषयपरित्यागरूपपरवैराग्यद्वारा असंप्रज्ञातस्योपायः । स हि स्वरूपप्रतिष्ठो निरालम्बन इति दिक् । संप्रज्ञातस्य तु भवप्रत्ययविशेषो न संभवतीति धारणाध्यानसमाधीनां संप्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गत्वेन तेषां निष्पत्तौ तत्रैव जन्मनि संप्रज्ञातावश्यंभावादिति बोध्यम् ॥ २० ॥

(अधिमात्रोपायानां) तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

अधिमात्रत्वं अतिप्रमाणत्वम् । अतिशयितत्वमिति यावत् । संवेगश्चानुष्ठाने श्रेष्ठ्य (शैष्ट्य) मविच्छेदश्च । तीव्रसंवेगेन अधिमात्रसाधनवतामासन्नः विलम्ब-रहितः, योगो भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

ते योगिनस्त्रयः । मृदूपायाः मध्योपायाः अधिमात्रोपायाश्च । उपायाः श्रद्धा-दयः । तेषां मृदुत्वादि प्राग्भवीयादृष्टवशात् । अधिमात्रत्वमतिशयितत्वम् । तेऽत्र प्रत्येकं त्रिधा मृदुसंवेगमध्यसंवेगतीव्रसंवेगाः । संवेग उपायानुष्ठाने शैष्ट्यम् । तस्यापि मृदुत्वादि प्राग्भवीयादृष्टदेव । तत्राधिमात्रोपायाः क्षिप्रसिद्धिभाजः तेषां क्षिप्रतरत्वे हेतुं दर्शयति—**तीव्रसंवेगानामासन्नः** । अधिमात्रोपायानामित्यादिः, समाधिलाभस्तत्फललाभश्चेति शेषः । 'विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि' इति स्मृतेः ॥ २१ ॥

आसन्नतायामपि तरतमत्वरूपविशेषहेतुमाह—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदुत्वमल्पता । मध्यत्वं प्रसिद्धम् । अधिमात्रत्वं च व्याख्यातम् । तानि तानि विशेषणतया भाष्ये व्याख्यातानि । तथा च संवेगविशेषणस्य तीव्रत्वस्य मृदुत्वादित्रैविध्येन ततोऽप्यासन्नादपि विशेष आसन्नतरासन्नतमरूपो योगो भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

तत्रापि विशेषमाह—**मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः** । मृदुतीव्रो मध्यतीव्रः अधिमात्रतीव्र इति शैष्ट्यं त्रिधा । एवं च मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरः ततोऽप्यधिमात्रसंवेगस्यासन्नतम इत्यर्थः । ततोऽपीत्यपि-शब्द आगामिसूत्रस्थसाधनपेक्षया आसन्नतमसमाध्यादिलाभे ॥ २२ ॥

योगस्यासन्नतमत्वे किमिदमेव साधनमुताऽन्यदप्यस्तीत्याकाङ्क्षायामाह—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

वक्ष्यमाणलक्षणो य ईश्वरः परमात्मा परब्रह्मादिशब्दवाच्यो नि[रूपा?रव]धि-कैश्वर्योपलक्षितश्चिन्मात्रः पुरुषविशेषस्तत्प्रणिधानात् 'तज्जपस्तदर्थं भावनम्' इति

वक्ष्यमाणान्तद्विषयकधारणाध्यानसमाधित्रयतुल्यादप्यासन्नतमो योगस्तत्कालं च भवतीश्वरानुग्रहादित्यर्थः । तथा च पूर्वसूत्रोक्तमासन्नतमयोगसाधनं जीवात्म-
योगिपरमिति ॥ २३ ॥

गुप्तं सुखदोषायान्तरमाह—ईश्वरप्रणिधानाद्वा । पूर्वसूत्रस्थं विशेष इत्य-
नुवर्तते । वक्ष्यमाणलक्षणेश्वरस्य परब्रह्मादिशब्दवाच्यस्यौपाधिकैश्वर्योपलक्षितस्य
चिन्मात्रपुरुषविशेषस्य प्रणिधानं 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति वक्ष्यमाणं तद्विषयक-
धारणाध्यानसमाधित्रयादल्पादपि आसन्नतमो योगस्तत्फलं च भवति । पूर्वं हि
संप्रज्ञातो जीवात्मसाधारण उक्तः । तत्र जीवात्मविषयसंप्रज्ञातादुक्तोपायेनैवासंप्र-
ज्ञातस्यासन्नतमता । परमात्मसंप्रज्ञातात् तं विनापि स आसन्नतम इति भावः ।
अतएव श्रुत्यादिषु प्रायेण परब्रह्मज्ञानमेव मोक्षहेतुत्वेनोपदिश्यते । तस्मादयं
मुख्यो मार्ग इति तत्त्वम् । किंच ब्रह्मात्मना चिन्तनरूपप्रेमलक्षणया भक्त्याभिमुख
ईश्वरोऽस्य मोक्षो भवत्वित्यभिधायति । एवंच तस्याव्याहतेच्छलात्तद्रूपादभिध्या-
नादस्य मोक्ष आसन्नतम इति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

ईश्वरं लक्षयति—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

क्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा द्वितीयपादे व्याख्येयाः । कर्म धर्मा-
धर्मौ । विपाकाः कर्मफलानि जन्मायुर्भोगाः । आशयो ज्ञानादिवासनाः । एतैः
कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इत्यर्थः । यद्यपि जीवा अपि क्लेशादिशून्या
एव क्लेशादेरन्तःकरणधर्मत्वात् । तथापि स्वामित्वसंबन्धेनैव क्लेशाद्यभावस्य
विवक्षितत्वाजीवव्यावृत्तिः । जीवा हि क्लेशादिफलयोः सुखदुःखयोर्भोक्तृत्वाक्ले-
शादिस्वामिन इति ॥ २४ ॥

अथ जीवव्यावृत्तमीश्वरस्वरूपमाह—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पु-
रुषविशेष ईश्वरः । अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः । कर्म धर्मा-
धर्मौ । विपाकाः कर्मफलानि जन्मायुर्भोगाः । आशयस्तदनुगुणं संसारसामा-
न्यम् । एतैः कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इत्यर्थः । जीवन्मुक्तप्रकृति-
लीनादिव्यावृत्तये कालत्रयेऽपीति परामर्शशून्यत्वार्थकापरामृष्टपदलब्धम् । यद्यपि
जीवा अपि क्लेशादिशून्या एव तेषामन्तःकरणधर्मत्वात्, तथापि स्वाश्रयस्वा-
मित्वसंबन्धेनैव क्लेशाद्यभावस्य विवक्षणान्न दोषः । जीवा हि तत्फलदुःखादिभो-
क्त्वात् क्लेशाद्याश्रयचित्तस्वामिनः । तदुक्तम्—स हि तत्फलभोक्तेति । यथा यो-
द्धुः पु वर्तमानौ जयपराजयौ स्वामिनि व्यपदिश्येते इति च भाष्ये । ईश्वरत्वं चास्ये-
च्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमत्वम् । तच्च ज्ञानक्रियासामर्थ्यातिशयसंपत्तिं विना
न, सा चापहतरजस्तमोमलविशुद्धसत्त्वोपादानं विनेत्यालोच्य स्वयमेव सत्त्वमयं
प्रधानमुपादत्ते । एतावतैव प्रधानप्रेरकतास्य यत् लोकोद्धरणेच्छया तदङ्गीकारः ।
उपाददानोऽपि नास्मदादिवत्तत्त्वमविद्वान् भवति । नहि नटो रामत्वमारोप्य
तास्ताश्चेष्टा दर्शयन् भ्रान्तो भवति । एवंचेदमाहार्यमस्य रूपम् । बाधकालीने-

च्छाजन्त्यं ज्ञानमाहार्यम् । नचेच्छया सत्वोपादानं तेनचेच्छेत्यन्योन्याश्रयः, अना-
दित्वात् । पूर्वकल्पसंहारकाले पूर्णे मया सत्वप्रकर्ष उपादेय इति प्रणिधानपूर्वकं
तत्संहारे, ईश्वरसत्त्वे प्रधानसामान्यमुपागतेऽपि तदवधौ पूर्णे प्रणिधानवशात्पुनस्त-
दुपादत्ते इत्यनादित्वेन शाश्वतिकत्वान्न दोषः । एवं संहारकाले तमउपादाने इति
बोध्यम् । तत्र प्रकृतेर्द्वे शक्ती साहजिके सृष्टिशक्तिर्लयशक्तिश्चेति । तत्रेश्वरेण
सत्वपरिग्रहे सृष्टिशक्तेरुद्धोदधः । तमःपरिग्रहे लयशक्तेरुद्धोदधः । तमःपरिग्रहे च
योगनिद्रेत्युच्यते । तत्तच्छतयुद्धोधे त्वनादिवासनासहकारेण तत्तत्पुरुषभोगार्थं तथा
तथा प्रधानं परिणमते इति न वैषम्यनैर्घृष्ये ईश्वरस्य प्रसज्येते इति बोध्यम् ।
नन्वीदृशे तस्मिन् किं मानमिति चेच्छ्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रमिति गृहाण । तत्कर्तृकमन्त्रा-
युर्वेदादौ अर्थाव्यभिचारनिश्चयात् प्रामाण्यस्य इष्टत्वेनान्यत्रापि तत्कर्तृके तत्त्व-
रूपबोधकेऽपि तन्निश्चयात् । नच तस्यान्यकर्तृकत्वं संभवति । ओषधीनां तत्संयो-
गानां चान्वयव्यतिरेकयोरन्यस्य सहस्रेणापि पुरुषायुषैरशक्यत्वात् । नचागमादन्व-
यव्यतिरेकौ ताभ्यां चागम इति तत्संतानयोरनादित्वान्न दोषः, महाप्रलये तयोर्वि-
च्छेदात् । विसंहशपरिणामक्षीरेक्षुरसादेर्दधिगुडादिरूपात्परिणामात्पूर्वं सदृशप-
रिणामताया दर्शनेन महदादिरूपविसदृशपरिणामवतः प्रधानस्य कदाचित्सदृशपरि-
णामावश्यकत्वेन साम्यावस्थारूपसदृशपरिणामस्यैव महाप्रलयत्वात् । तस्मादीश्व-
रबुद्धिसत्त्वप्रकर्षादेव वेद इति सिद्धम् । तस्य तत्त्वं वेदकारणात् वेदेन तथा
बोधनाच्च, शास्त्रं तदेव बोधयति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त एकश्चेति । अतस्त-
दैश्वर्यं तज्ज्ञानं च साम्यातिशयनिर्मुक्तम् । अन्येषां त्वौपचारिकमैश्वर्यमिति
दिक् ॥ २४ ॥

निषेधमुखेन लक्षणमुक्त्वा विधिमुखेनापि तदाह—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

सर्वज्ञत्वानुमापकं यज्ज्ञानस्य सातिशयत्वं तत्तत्रेश्वरे निरतिशयं विश्रान्त-
मित्यर्थः । तथा च निरतिशयज्ञान ईश्वर इति लक्षणम् । अत्रेदमनुमानम् ।
ज्ञानं क्वचित्प्राप्तकाष्ठं सातिशयत्वात्, परिमाणवदिति ॥ २५ ॥

तत्र मानान्तरमाह—तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम् । सर्वज्ञत्वस्यानु-
मापकं यज्ज्ञानस्य सातिशयत्वमयमितो बहुज्ञानवानित्येवं तत्तत्रेश्वरे निरतिशयं
विश्रान्तमित्यर्थः । ज्ञानं च क्वचित्प्राप्तकाष्ठं सातिशयत्वात् परिमाणवदित्यनुमानम् ।
अत्र श्रुतिरनुकूलस्तर्कः । तस्य शिवेश्वरविष्णवादिविशेषसंज्ञावत्त्वं सर्वज्ञत्वतृप्तिचैत-
न्यस्वातन्त्र्यालुप्तशक्तित्वानन्तशक्तिलरूपषडङ्गवत्त्वं ज्ञानवैराग्यैश्वर्यतपःसत्यक्षमाधृ-
तिस्रष्टृत्वात्मबोधाधिष्ठातृत्वरूपदशाव्ययत्वं च श्रुत्यादितोऽवसेयम् । नन्वेवं नित्य-
तृप्तस्य स्वार्थतृष्णासंभवात् अप्रयोजना कथं प्रवृत्तिः । प्राणिकरुणया तत्प्रवृत्त्या
नित्यत्वाद्वा न दोष इति चेत् । दुःखबहुललोकसर्जनानुपपत्तिरेवेति चेन्न । ज्ञानधर्मो-
पदेशेन-पुरुषकैवल्याय करुणया प्राण्यनुग्रहाय तदुपपत्तेः । भोगविवेकख्यातिरूपको-

र्यकरणेन चरितार्थचित्तनिवृत्तौ हि कैवल्यं भवति । अतस्तदुपयोगिवैराग्यनिष्पत्तये दुःखबहुललोकसर्जनोपपत्तिरपि, उपपादितरीत्या शङ्कानुदयाच्चेति दिक् ॥ २५ ॥

तस्यैश्वर्यं नित्यमिति प्रतिपादयति—

(स एष) पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

स एष ईश्वरः पूर्वेषां हिरण्यगर्भादीनामपि गुरुरन्तर्यामिविधया ज्ञानचक्षुः-
प्रदः । कालानवच्छिन्नत्वान्नित्यत्वा...भवतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः “जन्म-
निरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मादिनो हि प्रवदन्ति नित्य”मिति । जन्मनिरोधं
जन्माभावं ईश्वरस्य च जीववदेव...सति(?)श्चिन्मात्रस्यैश्वर्यवानुपाधिरस्ति ।
‘कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः’ इति स्मृतेः । ईश्वरस्याशेषविशेषास्तु
वेदान्तशास्त्रे परीक्षिताः ॥ २६ ॥

तत्र ब्रह्मादिभ्यो विशेषमाह—स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानव-
च्छेदात् । स एष ईश्वरः पूर्वेषां पूर्वसर्गोत्पन्नानामपि ब्रह्मविष्णुहरादीनामपि
गुरुः स्रष्टाऽन्तर्यामिविधया वेदादिद्वारा ज्ञानचक्षुःप्रदश्च कालानवच्छिन्नत्वात्तेषां
कालेन शतवर्षादिनावच्छेदादिति भावः । ‘यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च
ग्रहिणोति तस्मै’ इति श्रुतेरिति भावः । अस्य च निमित्तकारणत्वाच्च प्रकृतिस्वातं-
त्र्यक्षतिः । घटे कुलालवत् दण्डादीनां कारणत्वेपि तद्वदेवास्य स्वतन्त्रत्वमपि ।
अत्रेश्वरस्य सर्वपितृत्ववचनात्सर्वान्तर्यामित्वेन रूपेण गुरुत्वेन जीवानामपि आत्मे-
श्वर इति वेदान्तवाक्यार्थोऽपि सूचितः । यो हि यस्याधिष्ठाता स तस्यात्मेति
दृष्टम् । यथा सूर्यश्चक्षुषः । यथा वा जीवो देहस्य तेनाविभागलक्षणोऽमेद एव
‘अविभागो वचनात्’ इति सूत्रेण वेदान्तेऽप्युक्तः । एतन्मूलक एव जीवब्रह्मणोरं-
शाशिभावव्यवहार इति दिक् । एतत्सर्गादौ स सिद्धस्तथा कान्तसर्गादावप्याग-
मात्स सिद्ध इति ॥ २६ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

तस्य ईश्वरस्य प्रणवो मुख्यं नामेत्यर्थः । “अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो
मनोमयः । तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति” इति स्मृतेः ॥ २७ ॥

तत्प्रणिधानाय तन्मन्त्रमाह—तस्य वाचकः प्रणवः । तस्यैश्वरस्य । एवंचे-
श्वरः प्रणववाच्यः । वाच्यवाचकभावश्च स्वाभाविकः ईश्वरस्यैतत्सूत्ररूपसंकेतात् ।
ननु यदि स्वाभाविकः संबन्धः शब्दार्थयोः संकेतेन व्यज्यते ततो यत्र नास्ति न
तत्र व्यज्येत । नह्यविद्यमानो घटो दीपेन व्यज्यते । तस्मात्संकेत एव वाच-
कत्वं, संकेतकृतमिति तु राहोः शिर इतिवदिति चेन्न जनकत्वादेरपीश्वरसंकेत-
रूपत्वापत्तेः । सर्वेषु च शब्देषु सर्वार्थसंबन्धोऽस्त्येवेति नोक्तदोषः । संकेतस्त्वीश्व-
रस्य स्थितमेव संबन्धं बोधयति । पितापुत्रसंबन्धस्यायमस्य पितेति संकेतेन
बोधवत् । एवं चेदं सूत्रं ईश्वरसंकेतरूपम् । अन्यथास्य तत्त्वमपि भज्येत । एवंच
यत्रार्थे ईश्वरसंकेतः स तस्य वाच्यः । अन्यस्तु लक्ष्यादिरिति विवेकः । संकेतश्चा-

ध्यासरूप इति तृतीये भाष्यकृद्वक्ष्यति । अध्यासश्चैश्वरो योऽयं शब्दः सोऽयमर्थ इत्याकार एव । अस्यायमर्थ इति तु विकल्पः । एवं च तद्विषयस्तन्मूलं चावि-
भारूपतादात्म्यमेव शक्तिरिति बोध्यम् । प्रलये शब्दानां प्रधानसाम्ये जातेऽपि
संस्कारवशात्सर्गान्तरे पूर्ववच्छक्तियुक्तानामेवाविर्भावः । पूर्वसंकेतानुसारेण च
भगवता संकेतः क्रियते । व्यवहारपरंपराया नित्यतया च नित्यः शब्दार्थसंबन्ध
इति आगामिनो योगिनः प्रतिजानते इति भाष्यकृतः ॥ २७ ॥

प्रणिधानं लक्षयति—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

प्रणवस्य जपः प्रणवार्थस्य ब्रह्मणश्चिन्तनं धारणाध्यानसमाधिरूपं प्रणि-
धानमिति शेषः । 'जपश्च प्रणवं नित्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् । कोटिसूर्यसमं
तेजो ध्यायेदात्मनि निर्मलम्' इत्यादिस्मृतिभ्यः प्रणवजपस्य प्राथमिकध्यानाङ्ग-
त्वमिति । ब्रह्मविष्णुशिवात्मकं ब्रह्मादीनामप्यन्तर्यामि । तेजश्चैतन्यम् ॥ २८ ॥

अथ तत्प्रणिधानमाह—तज्जपस्तदर्थभावनम् । तस्य प्रणवस्य जपस्तेन
सहाचिन्त्यैश्वर्ययुक्तस्य तदर्थस्य परमात्मनः श्रद्धानैर्भावनं ध्यानम् । वाच्यवाचक-
भावं ज्ञात्वा क्रियमाणं सर्वार्थदमुपासनम् । [सर्वार्थाश्चित्तैकाग्र्यादयः] प्रणवे ब्रह्मवि-
ष्णवादिध्यानमपि तदन्तर्यामिचैतन्याभिप्रायेण ॥ २८ ॥

ईश्वरयोगस्य साङ्ख्ययोगापेक्षयातिश्रेष्ठत्वप्रतिपादनार्थमुत्कर्षमाह—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

तत ईश्वरप्रणिधानात् प्रत्यक्चेतन्यस्य जीवस्य साक्षात्कारोऽपि भवति । च-
शब्द आसन्नतमयोगसमुच्चये । तथा योगान्तरायाणां योगविघ्नानां निवृत्तिश्च
भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अस्योत्कर्षमाह—ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च । तत
ईश्वरप्रणिधानात्, प्रतीपं विपरीतमश्नति विजानाति स चासौ चेतनश्चेति प्रत्यक्चे-
तनो जीवस्तदधिगमस्तत्साक्षात्कारः । नचेश्वरविषयात्प्रणिधानात्कथं जीवसाक्षा-
त्कारः ? सादृश्यात् । यथैकशास्त्राभ्यासः सदृशार्थशास्त्रान्तरज्ञानजनकः । यथेश्वरः
शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथा बुद्धेः प्रतिसंवेद्यपि जीव इति । अन्तरायाणां
योगविघ्नानां व्याध्यादीनां निवृत्तिश्च भवतीत्येवमुत्कर्षोऽस्येति भावः ॥ २९ ॥

अन्तरायाणाह—

**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनाल-
ब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽ-**

न्तरायाः ॥ ३० ॥

अतो व्याध्यादयश्चित्तविक्षेपका अतो योगान्तराया इत्यर्थः । तत्र व्याधिः

धातुरसकरणानां वैषम्यम् । धातवो वातपित्तकफाः, रसा आहारपरिणामाः, करणानि त्वक्चक्षुरादीनि एषां वैषम्यं स्वभावप्रच्यवः । स्त्यानमकर्मण्यता । योगानुष्ठानाक्षमत्वमिति यावत् । संशयो गुरुशास्त्रोक्तसाधनेषूभयकोटिकं ज्ञानम् । प्रमादोऽनवधानम् । आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिर्विषयामिलाषः । भ्रान्तिदर्शनं गुर्वादिप्रमितार्थविपरीतनिश्चयः । अलब्धभूमिकत्वं वक्ष्यमाणानां योगभूमीनां साधनानुष्ठानेऽप्यलाभः । अनवस्थितत्वं योगभूमिलाभेऽपि योगभ्रंश इति ॥ ३० ॥

तानन्तरायानाह—व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । रजस्तमोजन्या एते नव चित्तविक्षेपकत्वाद्योगान्तरायाः । चित्तस्य विक्षेपोऽनेकवृत्तित्वम् । व्याधिर्वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यजन्यः । स्त्यानं योगानुष्ठानाक्षमत्वम् । संशयः शास्त्रोक्तसाधनेषूभयकोटिस्पृग्ज्ञानम् । प्रमादः शमादिभावनाभावः । आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिर्विषयामिलाषः । भ्रान्तिदर्शनं शास्त्रोक्तार्थविपरीतनिश्चयः । अलब्धभूमिकत्वं वक्ष्यमाणयोगभूमीनां साधनानुष्ठानेऽप्यलाभः । अनवस्थितत्वं योगभूमिलाभेऽपि योगभ्रंशः ॥ ३० ॥

व्याध्यादिभ्यश्चान्येऽप्यन्तराया भवन्तीत्याह—

**दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसह-
भुवः ॥ ३१ ॥**

दुःखं स्वतो द्वेष्यम् । दौर्मनस्यं चित्तचाञ्चल्यम् । अङ्गमेजयत्वमङ्गकम्पः । श्वासो देहान्तर्वायोरधिकप्रवेशः । प्रश्वासो देहाद्वायोरधिकनिर्गमः । एते विक्षेपसहभुवो व्याध्यादिव्यवधानेनैव जायन्त इत्यर्थः । अथवा दुःखादयो वृत्तिचाञ्चल्यरूपविक्षेपोद्भवा इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अन्यानप्यन्तरायानाह—दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः । दुःखं स्वतो द्वेष्यम् । दौर्मनस्यं चित्तचाञ्चल्यम् । अङ्गमेजयत्वं अङ्गकम्पः । श्वासो बाह्यवायोरन्तःप्रवेशः । प्रश्वासः आन्तरवायोर्बहिर्निर्गमः । एते चित्तचाञ्चल्यरूपविक्षेपसहभुवः तज्जन्या इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

सूत्रद्वयोक्ता अन्तराया ईश्वरप्रणिधाननिरस्या इति मुख्यकल्पाभिप्रायेणैवोक्तम् । तदसंभवे तु यत्र कुत्रचिदैकाग्र्येणाप्येते बलवदभ्यासतो निरसनीया भवन्तीत्याह—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमन्ततो यत्र कुत्रचिदप्येकस्मिन्नर्थे अभ्यासः कार्य इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

ईश्वरप्रणिधानवतस्त्वेते स्वतः एव न भवन्तीत्युक्तम् । तदभाववतस्तु बलवदभ्यासनिरसनीया एत इत्याह—तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । तेषाम-

न्तरायाणां प्रतिषेधार्थमन्ततो यत्र कुत्रचिदप्येकार्थेऽभ्यासः कार्यः । तेन चोदितायामेकाग्रतायां विक्षेपाः प्रशममुपयान्ति । एकाग्रतोपदेशादेव चित्तमे-
षामक्षणिकं स्थिरमनुभूतस्मृतिदर्शनाच्च स्वकृतकर्मोपभोगाच्च । यदहमद्राक्षं
तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीति प्रत्यभिज्ञानाच्च, अहंप्रत्ययगोचरश्चित्तमेव ।
एकाग्रतोपदेशादेव नाणु किंतु विभु, योगिनां सर्वावच्छेदेनैकदाखिलसा-
क्षात्काराच्च, अयोगिनामपि दीर्घशङ्कुलीभक्षणादौ अनेकेन्द्रियवृत्त्यनुभवाच्च ।
नच तेषां योगजधर्म एव प्रत्यासत्तिः, संयोगादिलौकिकप्रत्यासत्त्यैवोपपत्तौ
तत्कल्पने गौरवादन्योन्यव्यभिचाराच्च, तद्वारणाय साक्षात्कारेष्ववान्तरजातिकल्पने
गौरवम् । अतएव न मध्यमपरिमाणं प्रलये विनाशेनादृष्टाधारतानुपपत्तेः ।
अतो विभु । तस्य च सर्वार्थग्रहणसमर्थस्य तमआख्यावरणभङ्ग एव योगेन
क्रियते । सुषुप्तौ तमसो वृत्तिप्रतिबन्धकत्वसिद्धेः । विभोरपि गतिश्चुतिरात्मन
इव प्राणेन्द्रियाद्युपाधिर्नोपपन्ना । कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैविध्येन कार्यान्तः
करणस्य स्वतोऽपि गतिसंभवाच्च । विभोरपि प्रधानस्य (?) कार्यरूपत्वदर्शनात् ।
तदुक्तं भाष्ये—एकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तमिति । विशोकावेति सूत्रे बुद्धिसत्त्वं
भास्वरमाकाशकल्पमिति चोक्तम् ॥ ३२ ॥

योगसाधनगतो विशेष उक्तः । इदानीं स्थितिसाधने श्रद्धावीर्याद्युपाया-
भ्यासे वशीकारद्वारेणाप्रतिबन्धहेतूनाह सूत्रैः—

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविष-
याणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥**

प्रसादनं स्थितिनिबन्धनमिति तृतीयसूत्रस्थेनान्वयः । अन्यथा तत्र सूत्रे
वाशब्दवैयर्थ्यात् । निबन्धनत्वं च स्थितिहेतुश्रद्धाद्यप्रतिबन्धद्वारा स्थित्यभ्रंशहे-
तुत्वं भाष्ये व्याख्यातत्वात् । सुखादिशब्दाश्च धर्मधर्म्यभेदात्सुखितादिवाचिनः ।
तथा सुखितदुःखितधार्मिकपापशीलेषु यथोक्तक्रमं मैत्र्यादीनामुत्पादाच्चित्तस्य
प्रसादनं स्थितिनिबन्धनं भवति । रागद्वेषपापादिमलापसारणेन चित्तवशीकारात्
सूत्रे वक्ष्यमाणादित्यर्थः । मैत्री सौहार्दम् । करुणा निरुपाधिः परदुःखग्रहा-
णेच्छा । मुदिता प्रीतिः । उपेक्षा औदासीन्यमिति ॥ ३३ ॥

इदानीं श्रद्धावीर्यादिरूपोपायाभ्यासे स्थितिसाधने वशीकारद्वारेणाप्रतिबन्धहेतूनाह—
**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनात-
श्चित्तप्रसादनम् ।** प्रसादनं स्थितिनिबन्धनम् । निबन्धनत्वं च स्थितिहेतुश्र-
द्धाद्यप्रतिबन्धद्वारा स्थित्यभ्रंशहेतुत्वम् । सुखादिशब्दाश्च सुखितादिवाचिनः । तेषु
क्रमेण मैत्र्यादीनामुत्पादनाभ्यासात्प्रसन्नं चित्तमेकाग्रं स्थितिपदं लभते इत्यर्थः ।
मैत्री सौहार्दम् । करुणा निरुपाधिः परदुःखग्रहाणेच्छा । मुदिता प्रीतिः । उपेक्षा
औदासीन्यम् । एषां च परिकर्मेति संज्ञा । एकाग्रताहेतुश्चित्तसंस्कारः परिकर्म । स

च विषयकालुष्यराहित्यरूपश्चित्तप्रसादः । रागद्वेषेर्ष्यासूयामर्षपापादिमलापसारण-
द्वारा एते तद्धेतवः ॥ ३३ ॥

प्रसादनस्य साधनान्तरमाह—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

प्राणस्य प्रच्छर्दनं वमनं, रेचनमिति यावत् । विधारणं कुम्भकम् । तच्चार्था-
त्पूरकानन्तरं, रेचकोत्तरं पूरकं विना विधारणासंभवात् । प्राणायामतयास्य भाष्ये
प्रोक्तत्वाच्च । तथा च एतद्व्यात्पूरणगर्भादपि चित्तप्रसादनं कुर्यादित्यर्थः । अथवा
प्रच्छर्दनं रेचकं विधारणं तु पूरकम् । वसिष्ठसंहितायां नाडीशुद्ध्यर्थं रेचकपूरक-
मात्रस्यापि प्राणायामस्योक्तत्वादिति ॥ ३३ ॥

प्रसादस्य साधनान्तरमाह—**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।**
प्राणस्य प्रच्छर्दनं वमनं रेचनम् । विधारणं कुम्भकम् । एतच्च पूरकोपलक्षणम् ।
एतद्वा चित्तप्रसादस्य कारणम् । वाशब्दो वक्ष्यमाणापेक्षया विकल्पे । मैत्र्यादि-
भावनायाः सर्वैः सह समुच्चयादिति मिश्राः । “इन्द्रियाणां वलं प्राणास्तेषां यत्नेन
निग्रहात् । विक्षेपहेतवोऽक्षाणां दह्यन्ते दोषराशयः” इति स्मृतिः । यद्वा प्रच्छर्द-
नविधारणे रेचकपूरकौ तावन्मात्रप्राणायामस्यापि नाडीशुद्ध्यर्थं वसिष्ठसंहितादा-
युक्तत्वात् ॥ ३४ ॥

प्रसादनापेक्षया स्थितिनिबन्धनान्तरमाह—

विषयवती वा प्रवृत्तिरूपज्ञा मनसः स्थितिनिबन्धिनी ३५

विषया गन्धादयो दिव्याः पञ्च विषयत्वेनास्याः सन्तीति विषयवती प्रवृत्तिः
प्रकृष्टा साक्षात्काररूपा वृत्तिः योगशास्त्रोक्तप्रकारेण नासाग्रादौ चित्तधारणाद-
ल्पकालेनैव जायते । नासाग्रे दिव्यगन्धसंविदित्यादिभाष्यवचनात् । सा वा
प्रवृत्तिरूपज्ञा मनसो विषयान्तरेषु विवेकपर्यन्तेषु स्थितिनिबन्धिनी भवति ।
शास्त्रोक्तार्थैकदेशे साक्षात्कारेणार्थान्तरेऽपि संशयादिनिरसनतः श्रद्धावीर्याद्य-
प्रतिबन्धादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

उपायान्तरमाह स्थितौ—**विषयवती वा प्रवृत्तिरूपज्ञा मनसः स्थि-
तिनिबन्धिनी ।** मनसो नासिकाग्रजिह्वाग्रतालुजिह्वामध्यजिह्वामूलेषु योगशास्त्रो-
क्तप्रकारेण धारणात् क्रमेण तन्मात्ररूपदिव्यगन्धदिव्यरसदिव्यरूपदिव्यस्पर्शदि-
व्यशब्दविषया या प्रवृत्तिः प्रकृष्टा साक्षात्काररूपा वृत्तिः संविदुत्पद्यते । ता
उत्पन्ना वृत्तयश्चित्तस्यैकाग्रताकारणानीत्यर्थः । एवं चन्द्रादियग्रहमणिप्रदीपमणि-
रत्नादिवृत्तयोऽपि । शास्त्रोक्तार्थैकदेशसाक्षात्कारेणार्थान्तरेऽपि संशयादित्यागेन
श्रद्धावीर्याद्यप्रतिबद्धं भवतीत्याशयः ॥ ३५ ॥

स्थितिनिबन्धनान्तरमाह—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अन्तःकरणस्य पुरुषस्य वा योगजसाक्षात्काररूपा वृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते ।

सा यतः शोकनाशकत्वाद्विशोका । अतश्चाञ्चल्यहेतुशोकनिवृत्त्या सा वा प्रवृत्ति-
र्मनसः स्थितिनिवन्धिनीत्यर्थः । ननु आत्मसाक्षात्कारे पुनश्चित्तस्थितिः किमर्थ-
मपेक्ष्यत इति चेत् । असंप्रज्ञातहेतुपरवैराग्योत्पादनायेत्यवेहि । तथा साक्षा-
त्काराभ्यासं विना मिथ्याज्ञानवासनानुन्मूलनेन तदुन्मूलनार्थं परमात्मनि
चित्तसमाधानार्थं चेति ॥ ३६ ॥

उपायान्तरमाह—विशोका वा ज्योतिष्मती । विगतशोका प्रकाशरूपा च
प्रवृत्तिर्मनसः स्थैर्यहेतुरित्यर्थः । सा चान्तःकरणस्य पुरुषस्य वा योगजसाक्षात्कार-
रूपा वृत्तिः । तयोश्च विधूतरजस्तमोमलतया सत्त्वमयत्वेन सुखमयत्वाद्विशोकत्वम् ।
प्रकाशमयत्वाज्ज्योतिष्मतीत्वम् । सा च चाञ्चल्यहेतुशोकनाशकत्वात्तत्स्थैर्यकरी ।
नन्वात्मसाक्षात्कारे पुनश्चित्तस्थितेः क उपयोग इति चेत् । असंप्रज्ञातहेतुपरवै-
राग्यायेति गृहाण । तथा साक्षात्काराभ्यासं विना मिथ्याज्ञानवासनानुन्मूलनेन
तदुन्मूलनार्थं परमात्मनि चित्तसमाधानार्थं च ॥ ३६ ॥

स्थितिनिवन्धनान्तरमाह—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

वीतरागं यत्सनकादिचित्तं तद्विषयकं वा योगिचित्तं दृढस्थितये भवती-
त्यर्थः ॥ ३७ ॥

उपायान्तरमाह—वीतरागविषयं वा चित्तम् । वीतरागं सनकादिचित्तं
तद्विषयध्यानात् ध्यातृचित्तमपि तद्वत् स्थिरस्वभावं भवति । यथा कामुकचिन्तया
चित्तं कामुकं भवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

स्थितिनिवन्धनान्तरमाह—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

स्वप्नरूपं ज्ञानं स्वप्नज्ञानं पूर्वोक्तनिद्रारूपं च ज्ञानमेतयोरन्यतरस्य चिन्तकं
वा चित्तं स्थितिनिवन्धनं भवति । प्रपञ्चज्ञाने स्वप्नदृष्ट्या, संसारिषु सुषुप्तदृष्ट्या च
चित्तस्य दृढस्थितिर्भवतीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—‘दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा
चित्तविभ्रमम् । दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारे रघुनन्दने’त्यादि ‘ब्रह्माद्यं स्थाव-
रान्तं च प्रसुप्तं यस्य मायया । तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चिद्विमुच्यते ॥
चराचरं लय इव प्रसुप्तमिह पश्यताम् । किं मृषाव्यवहारेषु न विरक्तं भवे-
न्मनः’ इत्यादि चेति ॥ ३८ ॥

उपायान्तरमाह—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । यदा जाग्रज्ज्ञाने स्वप्नज्ञा-
नदृष्टिः क्रियते भङ्गुरविषयकत्वात्तदा ततो विरक्तं चित्तं स्थिरं भवति । तथा
जाग्रत्पुरुषज्ञानेषु सुषुप्तिज्ञानदृष्टिः क्रियते स्वरूपावरणसाम्यात्तदा तद्विरक्तं चित्तं
स्थिरं भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

किं बहुना यदेवाभिमतं हृदि हरिहरमूर्त्यादिकं तदेवादौ ध्यायेत् । तस्मादपि ध्यानान्नित्यतस्थितिकं भवतीत्यर्थः । प्रसादमारभ्यैतानि स्थितिनिबन्धनानि चित्तसंस्काररूपत्वाच्छास्त्रे परिकर्मशब्देन परिभाषितानि 'परिकर्म प्रसाधनम्' इति कोशादिति ॥ ३९ ॥

उपायान्तरमाह—यथाभिमतध्यानाद्वा । यदेवाभिमतं हरिहरमूर्त्यादि तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्धस्थितिपदमन्यत्रापि स्थिरं भवतीत्यर्थः । प्रसादमारभ्यैतदन्तानां परिकर्मसंज्ञा शास्त्रे । एषामनुष्ठाने ऐच्छिको विकल्पः ॥ ३९ ॥

परिकर्मनिष्पत्तेः फलरूपं लक्षणमाह—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

अस्य परिकर्मितस्य चेतसः परमाणुमारभ्य परममहत्पर्यन्तेष्वर्थेषु वशीकारो धारणायामप्रतीघातः केनाप्यप्रतिबन्ध इति यावत् । भवतीति शेषः । परमं महत्त्वमेवामिति परममहत्त्वाः पुरुषाः । तदेवमभ्यासवैराग्यादिकं परिकर्मान्तं योगस्यान्तरङ्गसाधनमुक्तम् । योगद्वितयं चावान्तरभेदैरुक्तम् ॥ ४० ॥

चित्तस्थैर्यगमकपरिकर्मनिष्पत्तेः फलमाह—परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः । तत्संज्ञकमस्य वैराग्यमित्यर्थः । तद्युक्तं न पुनः परिकर्माभ्यासमपेक्षते । तदेवमभ्यासवैराग्यादिकं परिकर्मान्तं योगस्यान्तरङ्गसाधनमुक्तम् । योगद्वयं चावान्तरभेदैरुक्तम् ॥ ४० ॥

इतः परं योगयोर्मुख्यफलं पादसमाप्तिपर्यन्तं वक्तव्यम् । तत्रादौ संप्रज्ञातस्य फलमुच्यते सूत्रैः—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थ- तदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणवृत्तेर्निरुद्धध्येयातिरिक्तवृत्तेर्निष्पन्नसंप्रज्ञातयोगस्येति यावत् । एतच्च हेतुगर्भविशेषणम् । समापत्तिरिति च साक्षात्कारपरिभाषा । तथाच यतश्चित्तं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं विषयान्तरव्यासङ्गदोषादेव तत्प्रतिबद्धमतो वृत्त्यन्तरनिरोधरूपे प्रतिबन्धापगमे सति ग्रहीत्रादिषु ध्येयेषु समापत्तिः साक्षात्काररूपवृत्तिः चित्तस्य स्वत एव भवति । सा च तत्स्थतदञ्जनतारूपा तेषु ग्रहीत्रादिषु स्थितस्य चित्तस्याशेषविशेषैः सम्यक्त्वाकारतारूपेत्यर्थः । अत्र द्रष्टव्यं—अभिजातस्येव मणेरिति । यथाऽभिजातस्य स्वभावतो निर्मलस्य मणेर्बाह्यमलापगमे सन्निकृष्टवस्वाकारता तद्वदित्यर्थः । अत्र ग्रहीता पुरुषसामान्यम् । ग्रहणं च गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या करणसामान्यं त्रयोदशविधम् । ग्राह्यं च स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेण त्रिविधम् । पञ्चभूतपञ्चतन्मात्रप्रकृतिरूपम् । अतो

ग्रहीत्रादित्रैविध्येन योगस्य विषयः सर्ववस्तु संगृहीतमिति सामान्यतः समाप-
त्तिरुक्ता । तत्र ग्रहीतृसमापत्तौ स्थूलसूक्ष्मविषयकत्वरूपविशेषाभावात् सा एक-
विधैव । ग्राह्यग्रहणसमापत्योस्तु विशेषसत्त्वात्तयोर्विशेषौ त्रिभिः सूत्रैर्वक्तव्यौ ।
स्थूलं कार्यं सूक्ष्मं च तत्कारणम् । अतः स्थूलं तन्मात्रकार्याणि भूतानि अहं-
कारकार्याणीन्द्रियाणि । प्रकृतिपर्यन्तं चान्यत्सर्वं सूक्ष्मम् । तद्विषये च स्थूल-
सूक्ष्मसमापत्ती प्रत्येकं वक्ष्यमाणरीत्या हि द्विविधे भवतः ॥ ४१ ॥

अथ संप्रज्ञातफलमाह—क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेरग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थितदञ्जनतासमापत्तिः । क्षीणवृत्तेर्निरुद्धध्येयातिरिक्तवृत्तेः निष्पन्नसंप्र-
ज्ञातयोगस्येति यावत् । हेतुगर्भं चैतत् । समापत्तिरिति साक्षात्कारसंज्ञा । स्वतः
एव सर्वार्थग्रहणसमर्थस्य विषयान्तरव्यासङ्गदोषरूपं तत्तद्ग्रहणे प्रतिबन्धकवृत्त्यन्तर-
निरोधेन तदपगमेन तदपगमे सति ग्रहीत्रादिषु ध्येयेषु समापत्तिः साक्षात्काररूपा
वृत्तिः स्वतः एव भवति । सा च तत्स्थितदञ्जनतारूपा तेषु ग्रहीत्रादिषु स्थितस्य
चित्तस्याशेषविशेषैः सम्यक्तदाकारतारूपेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तोऽभिजातस्य मणेरिति ।
यथाभिजातस्य स्वभावतो निर्मलस्य स्फटिकादेः बाह्यमलापकर्षे सन्निकृष्टवस्त्रा-
कारता तद्वत् । अत्र ग्रहीता पुरुषसामान्यम् । ग्रहणं त्रयोदशविधं करणम् ।
ग्राह्यं च स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेण त्रिविधं पञ्चमहाभूतपञ्चतन्मात्रप्रकृतिरूपम् ।
अनेन योगविषयः सर्वोऽपि संगृहीतः । तत्र ग्रहीतृसमापत्तौ स्थूलसूक्ष्मविषयक-
त्वरूपविशेषाभावः सा एकविधैवास्मितारूपा । ग्राह्यग्रहणसमापत्तौ तु स्थूलसूक्ष्म-
विषयत्वात्सविशेषे । तत्र स्थूलं तन्मात्रकार्याणि भूतानि अहंकारकार्याणि च ।
तदितरत्प्रकृतिपर्यन्तं सूक्ष्मम् ॥ ४१ ॥

तासु चतसृषु समापत्तिषु मध्ये स्थूलसमापत्तेः सवितर्कनिर्वितर्काख्यौ विशेषौ
क्रमेण दर्शयत्याद्यसूत्रद्वयेन—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

तृतीयसूत्रे सूक्ष्मसमापत्तेर्वक्ष्यमाणतया आद्यसूत्रयोः स्थूलविषयत्वं परिशेषा-
लभ्यते । तत्र समापत्तिसामान्ये गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्या-
दिरूपैः शब्दार्थज्ञानानां ये विकल्पा अमेदभ्रमाः, तद्युक्ता गवादिस्थूलसमा-
पत्तिः विपरीततर्कयोगात्सवितर्कसंज्ञेत्यर्थः । अत एव तत्कालीनयोग एव
सविकल्प इत्यप्युच्यते । विकल्पसंकल्पसंकीर्णत्वात् । एतद्विकल्पश्चन्य एव च
निर्विकल्पकयोग इति । एतेन यदाधुनिका आहुः—यत्किंचिद्धर्मपुरस्कारेणैव
प्रवर्तमानो योगः सविकल्पकः, निर्धर्मकश्च निर्विकल्पक इति, तदप्रामाणिक-
त्वाद्दुपेक्षणीयम् । अत्र च शब्दाद्यमेदविकल्प आरोपसामान्योपलक्षकम् । एव-
मुत्तरसूत्रेऽपि ॥ ४२ ॥

तत्र स्थूलसमापत्तेः सवितर्कनिर्वितर्कस्यौ विशेषावाह—तत्र शब्दार्थज्ञान-
विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः । सूक्ष्मविषयायास्तृतीयसूत्रे वक्ष्य-
माणतयाऽत्रसूत्रे स्थूलविषयाग्रहणम् । तत्र गौरितिशब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञान-
मित्यविभागरूपा ये शब्दार्थज्ञानविकल्पा अभेदभ्रमास्तद्युक्ता गवादिस्थूलसमापत्ति-
विपरीततर्कणयोगात्सवितर्कसंज्ञेत्यर्थः । अतएव स योगः सविकल्प इत्युच्यते ।
लोकेऽपीदृशं ज्ञानं सविकल्पकमुच्यते । एतद्विकल्पशून्यश्च निर्विकल्पकयोग
इति । वस्तुत उदात्तत्वादिधर्मैः शब्दस्य जडत्वमूर्तत्वादिभिरर्थस्य प्रकाशमूर्तिविर-
हादिभिर्ज्ञानस्य परस्परस्माद्भेद एव । शब्दाद्यभेदविकल्प आरोपसामान्योप-
लक्षकः ॥ ४२ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

पूर्वसूत्रे यो विकल्प उक्तस्तत्र शब्दसङ्केतस्मृतिरेव बीजम् । श्रवणमनननिदि-
ध्यासनेर्हि समापत्तिर्जायते । तत्र श्रवणं संकेतस्मरणकार्यम् । सङ्केतश्च शब्दार्थ-
योर्विकल्पिताभेदमात्र इत्यतः सङ्केतस्मृतिजन्ये शाब्दबोधेऽपि तयोरभेद
उपनीतत्वाद्भासते । ततश्च श्रवणकार्ये मनने निदिध्यासने प्राथमिकसाक्षात्कारे च
भासते । उपनयसाम्यात् । यदा तु ध्येयावेशवशात्तस्या विकल्परूपायाः सङ्केत-
स्मृतेः परिशुद्धिरपगमो भवति समापत्तिश्च स्वरूपशून्येव जायमाना भवति
तदा शब्दज्ञानयोरस्फुरणेनाभेदारोपासंभवात् अर्थमात्रनिर्भासा ध्येयार्थमात्रा-
वगाहिनी विकल्पशून्या स्थूलसमापत्तिर्निर्वितर्कसंज्ञेत्यर्थः । इयं समापत्तिः परं
प्रत्यक्षमुच्यते अविद्यालेशेनाप्यसंपर्कात् । पूर्वसूत्रोक्ता च समापत्तिरपरं प्रत्य-
क्षमविद्यालेशसत्त्वादिति ॥ ४३ ॥

स्थूलसमापत्तेर्द्वितीयं भेदमाह—स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनि-
र्भासा निर्वितर्का । पूर्वसूत्रोक्तविकल्पे संकेतग्राह्यशक्तिस्मृतिरेव बीजम् । श्रवणम-
नननिदिध्यासनेर्हि समापत्तिर्जायते । तत्र श्रवणं शक्तिस्मृतिकार्यं शक्तिश्च शब्दार्थ-
योर्वृत्त्येश्वरकल्पिताभेदकल्पिताभेदाध्यवसायरूपसंकेतग्राह्योऽभेद एवेति तज्जन्ये
शाब्दबोधेऽपि तयोरभेद उपनीतत्वाद्भासते । ततः श्रवणकार्ये मनने निदिध्यासनरूपे
प्रथमसाक्षात्कारे च भासते । उपनयसाम्यात् । यदा ध्येयावेशवशाच्छक्तिस्मृतेः
परिशुद्धिरपगमो भवति तज्जन्यश्रुतानुमितसाक्षात्काराणामपि विकल्परूपाणां परिशु-
द्धिरपगमः तदा समापत्तिः स्वरूपशून्येव भवति । शब्दज्ञानास्फुरणेनाभेदारोपासंभ-
वात् । तदा स्वरूपमात्रनिर्भासाऽविकल्पितरूपा परिच्छिन्ना ध्येयार्थमात्रावगाहिनी
स्थूलसमापत्तिर्निर्वितर्कसंज्ञेत्यर्थः । इयं समापत्तिः परं प्रत्यक्षमुच्यते, अविद्याले-
शेनाप्यसंपर्कात् । पूर्वा चापरं प्रत्यक्षमविद्यालेशसत्त्वात् । स चार्थः क इत्यत्रोक्तं
भाष्ये महत्त्वसमानाधिकरणैकत्वविषयैकबुद्धिविषयोऽणुप्रचयविशेषरूपावयवी घटा-

दिरूपः । अणुशब्देन तन्मात्राणि परमाणवश्च । तत्र च रूपरसादिपरमाणूनां नैरन्तर्येण संकलिततयावस्थानम् । सच तेभ्यो नात्यन्तभिन्नः, गवाश्ववद्धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः । नात्यन्तभिन्नः, धर्मिवदेव तदनुपपत्तेः । तस्मात्ततो भिन्नोऽभिन्नश्च । सच तदनुभवतद्व्यवहाराभ्यां विप्रतिपन्नं प्रत्यनुमेयः । कारणाभेदादेव तदाकारो धर्मान्तरस्य कपालादेरुदये च तिरोभवन्नष्ट इति व्यवहियमाणः अणुसाध्यक्रियाभिन्नतदसाध्य-मंधूदकादिधारणलक्षणक्रियावान्, स्पर्शवान्, महत्त्ववान्, एकत्ववान्, किञ्चिदपेक्ष-याणुत्ववांश्चेति ॥ ४३ ॥

स्थूलविषये समापत्तिर्द्वैविध्यं प्रदर्श्य सूक्ष्मेऽपि विषये तस्या द्वैविध्यमति-दिशति—

एतयैव सविचारा निर्विचारा सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

एतयैव सवितर्कनिर्वितर्करूपया स्थूलविषयकसमापत्त्या सूक्ष्मविषयापि सवि-
चारनिर्विचाररूपा समापत्तिद्वयी व्याख्याता । अन्योपरागानुपरागसाम्येनेत्यर्थः ।
अत्र हि विकल्पतच्छून्यत्वयोर्नातिदेशः, स्थूलविषयिण्यां निर्वितर्काख्यपूर्वभूमि-
कायां त्यक्तस्य यथोक्तविकल्पस्य सूक्ष्मविषयिण्यामुत्तरभूमिकायामसंभवादिति ।
तत्र स्थूलरूपं यत्कार्यं तदुपरागेण सूक्ष्मे समापत्तिः सविचारा कार्यकारण-
विचारघटितत्वात् । तदुत्तरोत्पद्यमाना च केवलसूक्ष्मविषयिणी निर्विचारेति
विभागः ॥ ४४ ॥

उक्तं द्वैविध्यं सूक्ष्मविषयसमापत्तावतिदिशति—एतयैव सविचारा निर्वि-
चारा सूक्ष्मविषया व्याख्याता । एतयैव सवितर्कनिर्वितर्करूपया स्थूलविषयया
समापत्त्या सूक्ष्मविषयापि सविचारनिर्विचाररूपा समापत्तिद्वयी व्याख्याता । अन्यो-
परागानुपरागसाम्येनेत्यर्थः । अत्र विकल्पतच्छून्यत्वयोर्नातिदेशः स्थूलविषयायां नि-
र्वितर्काख्यपूर्वभूमिकायां त्यक्तस्य विकल्पस्य सूक्ष्मविषयोत्तरभूमिकायामसंभवादिति ।
तदुक्तं भाष्ये ‘एवमुभयोरेतयोर्निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्याता’ इति । तत्र
स्थूलरूपं यत्कार्यं तदुपरागेण सूक्ष्मे समापत्तिः सविचारा, कार्यकारणविचारघ-
टितत्वात् । तस्यां हि स्थूलकार्यघटादिवैशिष्ट्यं तत्र चाणूनामुपर्यधोदेशावच्छिन्नत्वं
पार्थिवपरमाणौ गन्धतन्मात्रप्रधानपञ्चतन्मात्रानुगमः । आप्ये गन्धतन्मात्रभिन्न-
रसतन्मात्रप्रधानचतुरनुगमः । तैजसे तद्व्यरहितरूपतन्मात्रप्रधानत्र्यनुगमः,
वायवीये स्पर्शशब्दतन्मात्रानुगमः । नाभसे शब्दतन्मात्रानुगमस्तद्विशिष्टा बुद्धि-
रूपजायते । एवं च तत्तत्परमाणुस्तत्तन्मात्रप्रचयात्मा, तन्मात्रमपि गन्धाद्यणुप्रचया-
त्मकमिति बोध्यम् । तदुत्तरोत्पद्यमाना च केवलसूक्ष्मविषया निर्विचारेति विभागः ।
यद्यपि तन्मात्रादिसूक्ष्ममपि सर्वधर्मात्मकं तद्वच्च तथापि साक्षात्काराभ्यासेना-
तीतानागतवर्तमानसकलतद्धर्मापगम इति दिक् ॥ ४४ ॥

ननु सूक्ष्मो विषयः कियत्पर्यन्त इत्यपेक्षायामाह—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सूक्ष्मश्चासौ विषयश्चेति सूक्ष्मविषयः । अलिङ्गाख्यप्रकृतिपर्यन्तम् । न तु पुरुषः सूक्ष्म इत्यर्थः । अतोऽत्र सूक्ष्मत्वं तत्त्वान्तरप्रकृतित्वम् । न च जलादि-चतुष्टयेऽतिव्याप्तिः, भूतानामुत्तरोत्तरभूतेष्वधारकारणमात्रत्वात् । तन्मात्राणामेव भूतोपादानत्वात् । अन्यथाष्टप्रकृतिसिद्धान्तविरोधादिति ॥ ४५ ॥

सूक्ष्मो विषयः कियत्पर्यन्त इत्याकाङ्क्षायामाह—सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् । न क्वापि लयं गच्छतीत्यलिङ्गं प्रधानं तत्पर्यन्तं सूक्ष्मो विषयः इत्यर्थः । तत्त्वान्तरप्रकृतित्वमत्र सूक्ष्मत्वं विवक्षितमित्यर्थः । न च जलादिभूतचतुष्टयेऽतिव्याप्तिः । भूतानामुत्तरोत्तरभूतेषु आधारकारणमात्रत्वात्तन्मात्राणामेव भूतोपादानत्वात् । अन्यथाष्टप्रकृतित्वसिद्धान्तविरोधः स्यात् । पुरुषस्तु न परिणामिकारणं किंत्वधिष्ठानकारणं तेषां संसर्गे निमित्तकारणं चेति न तस्येदृशसौक्ष्म्यमिति भावः ॥ ४५ ॥

वितर्कविचारसूत्रेण पूर्वं संप्रज्ञातस्यावान्तरविभाग एव कृतः, ननु संप्रज्ञातसामान्यं लक्षितमतो यथोक्तसमापत्त्याख्यकार्यमुखेन सवीजपरिभाषापूर्वकं संप्रज्ञातसामान्यलक्षणमाह—

ता एव सवीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ता एव ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु समापत्तय एव सवीजः समाधिः संप्रज्ञातयोगः इत्यर्थः । समापत्तिरूपसाक्षात्कारहेतुत्वाद् योगस्य समापत्तित्वं कार्यकारणाभेदेनोक्तम् । आनन्दस्य बुद्धिधर्मत्वेनानन्दसमापत्तेर्ग्रहणसमापत्तावेव प्रवेशः । समापत्तीनां दुःखनिवृत्तिवीजसंस्कारहेतुत्वात् तद्वेतोर्वृत्तिनिरोधरूपस्य योगस्यापि सवीजत्वम् । समाधिशब्दश्चाङ्गाङ्गिनोरभेदेन योगे प्रयुक्तः ॥ ४६ ॥

इदानीं यथोक्तसमापत्त्याख्यकार्यमुखेन सवीजपरिभाषापूर्वकं संप्रज्ञातसामान्यलक्षणमाह—ता एव सवीजः समाधिः । ता एव ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु समापत्तय एव सवीजः समाधिः संप्रज्ञातयोग इत्यर्थः । समापत्तिरूपसाक्षात्कारहेतुत्वाद् योगस्य समापत्तित्वं कार्यकारणाभेदात् । आनन्दस्य बुद्धिधर्मत्वेनानन्दसमापत्तेर्ग्रहणसमापत्तावेव प्रवेशः, समापत्तीनां दुःखनिवृत्तिवीजसंस्कारहेतुत्वात्, तद्वेतोः वृत्तिनिरोधरूपयोगस्यापि सवीजत्वम् । समाधिशब्दश्चाङ्गाङ्गिनोरभेदेन योगे प्रयुक्त इति दिक् ॥ ४६ ॥

उक्तासु समापत्तिषु निर्विचारकाष्टायाः कंचनोत्कर्षमाह—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

ध्येयगताशेषविशेषप्रतिबिम्बोद्वाहिणी निश्चलैकाग्रता चित्तस्य वैशारद्यम् ।

निर्विचारसमापत्तेरेव वैशारद्ये सति अध्यात्मप्रसादो भवति । आत्मनि बुद्धौ वर्तत इत्यध्यात्मम् । तादृशप्रसादो नैर्मल्यं भवति । येन प्रसादेन पुरुषादिसाक्षात्कारस्तद्योगं विनापि भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

उक्तासु समापत्तिषु इतरासां निर्विचारफलकत्वान्निर्विचारायाः फलमाह—
निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । ध्येयगताशेषविशेषग्राहिणी निश्चलैकाग्रता चित्तस्य वैशारद्यम् । निर्विचारसमापत्त्या एव वैशारद्ये सति अध्यात्मं आत्मनि बुद्धौ प्रसादो भवति येन पुरुषादिसाक्षात्कारस्तद्योगं विनापि भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्ते सवीजयोगे जायमानायाः समापत्त्याख्यप्रज्ञाया अन्वर्था तान्त्रिकीं संज्ञामाह—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

तत्र सवीजयोगे जायमाना प्रज्ञा समापत्त्याख्या ऋतम्भरसंज्ञा भवति । ऋतस्य सत्यस्यैव भरणात् विषयत्वेन धारणादित्यर्थः । सवितर्कप्रज्ञायाश्च विकल्पसत्वेऽपि ऋतम्भरजातीयत्वेन संग्रहः । अथवा ततः किं तत्राह । ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । तत्राध्यात्मप्रसादे जायमाना आत्मसाक्षात्काररूपा प्रज्ञा ऋतम्भरेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

तदेवाह—ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । ऋतं सत्यं कूटस्थनित्यं पुरुषं विभक्तिं तादृशी तत्संज्ञा प्रज्ञा साक्षात्कारस्तत्र प्रसादे सति भवतीत्यर्थः । तदुक्तम्—‘आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्’ इति । पूर्वार्धेन श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि ॥ ४८ ॥

ननु आगमानुमानाभ्यामेव प्रमाणाभ्यामर्थतत्त्वं गृह्यतामलं तदुत्तरं योगेनेत्याशङ्कयामाह—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

सा तु योगसामान्यज्ञा प्रज्ञा श्रवणमननाभ्यामतिरिक्तविषया विशेषार्थत्वात् । विशेषविषयत्वादित्यर्थः । शब्दानुमाने हि सामान्यमात्रविषयके भवतः सामान्यपुरस्कारेणैव संकेतग्रहात्, व्याप्तिग्रहाच्च । न तु संकेतग्राह्यानवच्छेदकविशेषग्राहके । योगजप्रज्ञा तु तद्ग्राहिकेति । अतोऽनधिगताधिगन्तृत्वाद्योगजप्रज्ञायाः प्रामाण्यम् । ननु पुरुषे विशेषाभावात्तत्प्रज्ञा किंविशेषग्रहणेन सफला स्यादिति चेन्न । अन्ततः स्वस्वोपाधिप्रतिविम्बानामेवातीतानागतवर्तमानानां भोगरूपाणां मुक्तामुक्तसकलपुरुषेष्वन्योन्यं विशेषत्वादिति ॥ ४९ ॥

नन्वागमानुमानाभ्यामर्थतत्त्वनिर्णयेऽलं तदुत्तरयोगेनेत्यत आह—श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् । शब्दानुमाने हि सामान्यविषये तद्विषयातिरिक्तविषया च योगजप्रज्ञा विशेषविषयत्वादित्यर्थः । लौकिकप्रत्यक्षमपि न सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टविषयमित्यपि बोध्यम् । योगजज्ञानं तु सकलविशेषग्राहक-

मिति अनधिगतार्थगन्तृत्वात्तस्य ग्रामाण्यम् । ननु पुरुषे विशेषाभावात्तत्प्रज्ञा केन विशेषेण सफला स्यादिति चेन्न, अन्ततः स्वस्वोपाधिप्रतिबिम्बानामेवाती-
तानागतवर्तमानानां भोगरूपाणां मुक्तामुक्तसकलपुरुषेष्वन्योन्यं विशेषत्वादिति
बोध्यम् ॥ ४९ ॥

ननु तथापि प्रज्ञोत्पत्तिपर्यन्तं संप्रज्ञातयोगापेक्षा प्रज्ञोत्पत्त्यनन्तरं संप्रज्ञात-
परंपरया किं फलमित्याकाङ्क्षायामाह—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तज्जः एकाग्रसाक्षात्कारंधारारूपया समाधिप्रज्ञया जनितः संस्कारोऽन्येषां
व्युत्थानसंस्काराणां प्रतिबन्धी स्मृत्याख्यकार्यविरोधीत्यर्थः । तथा च समाधिपरं-
परया समाधिप्रज्ञासंस्कारदाढ्येन व्युत्थानसंस्काराशयस्याभिभवः क्रमेण
भवति । ततश्च दुःखहेतुव्युत्थानसंस्काराभिभवरूपे प्रज्ञाकृत्ये समाप्ते प्रज्ञायाम-
प्यलंबुद्ध्या सर्ववृत्तिनिरोधरूपोऽसंप्रज्ञातः स भविष्यतीति संप्रज्ञातपरम्परायाः
फलमिति भावः । मोक्षान्यथानुपपत्त्यैवाविद्यासंस्कारस्य विद्यासंस्कारदाढ्येन
नाशः सिद्ध्यति । अविद्यासंस्कारातिरिक्तानां च संस्काराणां चित्तनाशेनैव नाशो
न तु संस्कारान्तरस्य तन्नाशकत्वं कल्प्यते, गौरवात् । संस्काराणां विरोधिसं-
स्काराभिभावकत्वं तु लोके बहुधा सिद्धमतः संस्कारप्रतिबन्धीत्येव सूत्रितं न
तु तन्नाशक इति ॥ ५० ॥

अथ संप्रज्ञातपरंपरायाः फलमाह—**तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रति-
बन्धी ।** तज्जः एकाग्रसाक्षात्कारंधारारूपया संप्रज्ञातप्रज्ञया जनितः संस्कारो-
ऽन्येषां व्युत्थानसंस्काराणां प्रतिबन्धी तज्जन्यवृत्त्याख्यकार्यविरोधीत्यर्थः । अत्र
संप्रज्ञातपरंपरया समाधिप्रज्ञासंस्कारदाढ्येन दुःखहेतुव्युत्थानसंस्काराभिभवः,
तस्य धर्ममेघसमाधिना परिसमाप्तिः । स च सिद्धिकामनात्यागेन निरन्तरोत्प-
न्नात्सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिप्रवाहात्सवासनाविद्यासंस्कारनिवृत्तौ तस्यामपि ख्यातौ
प्रयोजनाभावेन दुःखात्मिकायामलंप्रत्ययरूपवैराग्ये सति जायते इति ज्ञेयम् ।
यदुत्तरमसंप्रज्ञातोदयः सर्वज्ञतादिजनकं प्रकृष्टं धर्मं मेहति वर्पतीति व्युत्पत्तेः ।
अस्यामवस्थायां जीवन्मुक्त उच्यते, ततः प्राक् सत्यां कामनायां भूतेन्द्रियप्रकृति-
जयोत्थः स्वेच्छाभोगश्च भवति । मोक्षान्यथानुपपत्त्यैवाविद्यासंस्काराणां विद्यासंस्का-
रदाढ्येन नाशः । अविद्यासंस्कारातिरिक्तसंस्काराणां च चित्तनाशेनैव नाशः । कस्य-
चित्तु सर्वज्ञतादिजनकधर्ममेघाभावेपि ज्ञानादविद्यानिवृत्तौ उत्तरक्लेशाभावात्कर्मविपा-
काभावेऽपि प्रारब्धकर्मभोगहेतुवासनानामनुच्छेदेन प्रारब्धकर्मभोगानन्तरं देहपाते
कैवल्यं भवतीति ज्ञेयम् । यत्तु योगस्याशेषपापनाशकत्वं श्रूयते तत्तु ज्ञानप्रतिब-
न्धकाशेषपापनाशपरम् । यत्तु तज्जन्यज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वं तत्प्रारब्धातिरिक्त-
सर्वकर्मनाशपरम् । ज्ञानेन प्रारब्धनाशे जीवन्मुक्तिप्रतिपादकश्रुतिविरोधश्च स्यात्तस्य
सर्वकर्मनाशकत्वमविद्यादिक्लेशसहकार्युच्छेदेन स्वविपाकानारम्भकत्वं, प्रारब्धकर्म-
भोगे तु वासनैव तदेतुसहकारिणीति बोध्यम् ॥ ५० ॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येत्यादिसूत्रैः संप्रज्ञातस्य फलं प्रपञ्चितम् । असंप्रज्ञातस्य फलमुच्यते—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

पूर्वपूर्वासंप्रज्ञाते तावदप्रज्ञैव निरुध्यते, प्रज्ञासंस्कारस्य तानवमात्रम् । एवं क्रमेण तस्यापि प्रज्ञाकृतसंस्कारस्याप्यसंप्रज्ञातपरम्परया निरोधे अत्यन्ताभिभवे जायमाने चरमासंप्रज्ञातव्यक्तिनिर्वीजयोगस्य परा काष्ठा भवति । अपुनरुत्थानेत्यर्थः । सैव च महानिद्रा परमो मोह इति गीयते । अयं च योगेन स्वेच्छया मोक्षः श्रुतिपूक्तो बहूनाम् । तदानीं च पुरुषार्थसमाप्त्या चित्तस्यात्यन्तलयात्तदाश्रितानां दग्धसंस्कारभावा (?) नां नाश इति । सर्वनिरोधादिति निर्वीजत्वे हेतुरुक्तः, यतः प्रज्ञा तत्संस्कारश्चात्यन्तं विलापितावतो दुःखबीजैः संस्कारादिभिः झून्यत्वान्निर्वीज इति । पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातेषु तु निर्वीजजातीयतया निर्वीजत्वव्यवहारः । अत्र सर्ववृत्तिनिरोधस्य संप्रज्ञातकृताखिलसंस्कारोन्मूलकत्ववचनात्तस्य संस्कारजनकत्वं सिद्ध्यति । क्रमेणैव ह्यसंप्रज्ञातपरम्परया चरमासंप्रज्ञाते निःशेषतः संप्रज्ञातसंस्कारदाहो वक्तव्यः । तत्र पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातानां विनष्टतया संस्कारातिरिक्तं द्वारं न संभवति । तथा उत्तरोत्तरासंप्रज्ञातेषु कालवृद्ध्यापि पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातानां संस्कारजनकत्वं सिद्ध्यति । संस्कारवृद्ध्यैव कालवृद्ध्यौचित्यादिति । ननु ज्ञानेन प्रारब्धातिरिक्ताखिलकर्मक्षये प्रारब्धस्य भोगेन समाप्त्या कर्माभावादेवापुनर्जन्मरूपो मोक्षो भविष्यति किमर्थमसंप्रज्ञातेनाखिलसंस्कारोन्मूलनमपेक्ष्यत इति चेत् । प्रारब्धस्यातिक्रमणाज्जटिति मोक्षार्थमित्यवेहि । भोगवासनारूपस्य हि सहकारिण उच्छेदे सति प्रारब्धमपि कर्मफलाक्षमं भवतीति । दृक् ॥ ५१ ॥

इति श्रीभावागणेशभट्टकृतायां योगदीपिकायाः पातञ्जलवृत्तौ समाधिपादः प्रथमः ॥ १ ॥

ननु व्युत्थानसंस्काराभिभवेऽपि प्रज्ञासंस्काराभिभवाभावात्तत्प्रवाहानिवृत्तौ तत्रैव जन्मनि शीघ्रं मोक्षो न स्यादत आह—**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वीजः समाधिः ।** परवैराग्येण स्वसंस्कारद्वारा प्रज्ञाकृतसंस्काराणां प्रज्ञायाश्च निरोधे कारणाभावेन कार्यानुत्पादान्निर्वीजः समाधिर्भवतीत्यर्थः । तत्र पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातसंस्कारस्याप्युत्तरोत्तरासंप्रज्ञातेनात्यन्ताभिभवे जायमाने चरमासंप्रज्ञातो निर्वीजकाष्ठा भवति । उत्तरोत्तरासंप्रज्ञातेषु कालवृद्ध्या पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातानां संस्कारजनकत्वं सिद्ध्यति संस्कारवृद्ध्यैव कालवृद्ध्यौचित्यात् । स च यथा यथातिशीयते तथातथा तत्त्वज्ञानपर्यन्ताखिलसंस्कारान् संप्रज्ञातयोगजास्तनूकरोति । एवं पूर्वपूर्वसंस्कारसहकृतचरमासंप्रज्ञातेन निःशेषतः प्रज्ञातसंस्कारदाहः । ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमर्थं, सहकारिणां दग्धत्वात् । प्राग्भवीयभोगसंस्कारा हि तत्स-

हकारिणः । ततः पुरुषार्थसमाप्त्या चरिताधिकारं चित्तमसमाप्तभोगकैर्नैव प्रारब्धकर्मणा निरोधसंस्कारैश्च सह स्वकारणेऽत्यन्तं लीयते । इयमेव चित्तस्य महानिद्रा पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिको दुःखात्मकाखिलदृश्यवियोगः, तदुक्तं—‘मनसोभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदय’ इति । ननु ज्ञानेनैव प्रारब्धभोगोत्तरं मोक्षसिद्धौ किमनेन योगेनेति चेन्न, प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेण झटिति मोक्षार्थत्वात् । अत्र वदन्ति—
विवेकसाक्षात्काररूपं ज्ञानं सांख्यपदवाच्यं, सर्वासर्वचित्तवृत्तिनिरोधरूपौ द्विविधौ योगश्चोभयमपि व्यापारभेदात्स्वातन्त्र्येण मोक्षकारणमत्र शास्त्रे विवक्षितम् । तत्र केवलज्ञानेन मोक्षे जनयितव्येऽभिमाननिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्त एव संप्रज्ञातोऽपेक्ष्यते ननु वृत्त्यन्तरवासनाक्षयाद्यर्थं संप्रज्ञातपरंपरापि । प्रारब्धसमाप्तौ तु सत्यां सर्ववासनानां चित्तेन सह नाशात् । अन्ये तु तमेव विदित्वेति श्रुतेः कस्यचित्स्वल्पयोगेनापि ज्ञानं, एतदन्तयोगेन तु भवत्येव ज्ञानमित्याशयः । ‘यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते’ इति गीतावाक्ये सम्यक्ख्यातं संख्या तत्त्वसाक्षात्कारस्तदुपायैर्गोवलीवर्दन्यायेन श्रवणमनननिदिध्यासनरूपैर्यज्ज्ञानं प्राप्यते तद् योगैरपि प्राप्यते(?) इति न तद्विरोध इत्याहुः ॥ ५१ ॥

॥ श्रीनागोजीभट्टीयायां पातञ्जलवृत्तौ समाधिपादः प्रथमः ॥

द्वितीयः साधनपादः ।

समाहितचित्तस्योत्तमाधिकारिणो योगारोहयोग्यस्याभ्यासवैराग्याभ्यामेव क्रियायोगनिरपेक्षाभ्यां योगनिष्पत्तिः पूर्वपादे प्रतिपादिता । इदानीं व्युत्थितचित्तो बहिर्मुखोऽपि यथा योगयुक्तः स्यात्तानि साधनान्युच्यन्ते—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तपोऽत्र चित्तप्रसादाविरोधिशस्त्रोक्तोपवासादिकम् । स्वाध्यायः प्रणवजपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणम् । नतु प्रथमपादोक्तं, तस्योत्तमाधिकारिणं प्रत्येवोक्तत्वात् । अर्पणं च कौर्मै प्रोक्तम्—‘नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा । एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभि’रिति । एतानि तपआदीनि क्रियारूपो योगो योगसाधनत्वादित्यर्थः । यद्यपि वक्ष्यमाणा यमनियमासनादयः सर्वेऽपि क्रियायोगास्तथापि तेभ्यः समाहृत्य प्रकृष्टं साधनत्रयं मध्यमाधिकारिणं प्रत्युपदिष्टमन्ततः केवलेनैतेनापि तीव्रतरेण योगो भवतीति सूचयितुम् ॥ १ ॥

योगाधिकारिणस्त्रिविधा मन्दमध्यमोत्तमाः क्रमेणारुरुक्षुर्बुद्धानयोगारूढरूपाः । तत्रोत्तमा ये पूर्वजन्मानुष्ठितवहिरङ्गक्रियायोगसाधनतया तत्रैरपेक्ष्येणैव योगारूढरूपा यथा जडभरतादयस्तेषामभ्यासवैराग्याभ्यामेव योगनिष्पत्तिः पूर्वपादे प्रतिपादिता । ‘आरूढयोगवृक्षाणां ज्ञानत्यागौ परौ मतौ । शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात्’ इतिगारूडाच्च । त्यागोऽत्र प्रकृतत्वाद्योगान्तरायस्य बाह्यकर्मणः क्रियायोगरूपस्य । योगारूढश्च—‘यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुपज्जते । सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते’ इति गीतायां लक्षितः । तत्राभ्यासश्चित्तस्य निश्चलैकाग्रताधारारूपस्थितौ ध्येयाद्वहिर्गच्छतश्चित्तस्य पुनःपुनरानयने यत्नः । वैराग्यं च तत्रतत्रालंबुद्धिरूपोपेक्षेत्याद्युक्तम् ।

इदानीं व्युत्थितचित्तस्य मध्यमाधिकारिणो वानप्रस्थादेः क्रियायोगरूपं साधनमाह—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । तपश्चित्तप्रसादाविरोधिशस्त्रोक्तोपवासादिकम्, स्वाध्यायः प्रणवादिजपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा, ईश्वरप्रणिधानमत्र परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणं तत्फलन्यासश्च । अर्पणं च—‘नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा । एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभि’रिति कौर्मै उक्तम् । कर्मफलन्यासश्च सर्वकर्मफलानामीश्वरो भोक्तेति चिन्तनम् । यदेव जीवान् कर्मफलानि भोजयन्परमेश्वरः प्रीणाति स एवेश्वरस्य तत्फलभोगः । अथार्थिभ्यो धनानि यच्छन् दाता तद्धनभोक्ता । यद्यप्यस्य नित्यानन्दभोगो नित्य एव तथापि जीवानां कर्मफलप्रदानाभिव्यक्तत्वेनैश्वर्यानुगतानन्दोत्पत्तिरौपचारिकी । यद्वा ‘कर्मतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् । तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्’ इत्यर्पणम् । फलन्यासश्च फलमनभिसंधाय कर्मकरणम् । एते क्रियारूपा योगा-

योगसाधनत्वादिति भावः । यद्यपि वक्ष्यमाणा यमादयोऽपि क्रियायोगा एव तथापि तेभ्यः समुद्धृत्य प्रकृष्टं साधनत्रयं मध्यमाधिकारिणं युजानं प्रति उपदिष्टमेतैरपि तीव्रतरैर्योगो भवतीति सूचयितुम् । मध्यमाधिकारिणा अभ्यासवैराग्यादिकं यथा-शक्त्यनुष्ठेयम् ॥ १ ॥

तपआदीनां योगोत्पादने द्वारमाह—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

स क्रियायोगः योगहेतुसमाधिं चित्तैकाग्र्यमुत्पादयति वक्ष्यमाणांश्च क्लेशान् योगप्रतिबन्धकान् प्रकर्षेण तनूकरोति सत्त्वशुद्ध्यादिद्वारेणेत्यर्थः । तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धकतावच्छेदकस्योत्कटत्वस्याभावः ॥ २ ॥

एषां योगोत्पादने द्वारमाह—समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च । स क्रियायोगः समाधेर्योगहेतुचित्तैकाग्र्यस्योत्पादकः, वक्ष्यमाणक्लेशानां योगप्रतिबन्धकानां संलशुद्धिद्वारेण तनूकरणार्थश्चेत्यर्थः । तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धकतावच्छेदकोत्कटत्वस्याभावः । एवंच प्रतिबन्धकाभावाद्विवेकख्यात्यात्मकप्रसंख्यानोदये ते क्लेशा दग्धवीजवद्वन्ध्या भवन्ति । बन्ध्येषु च तेषु समाप्ताधिकारं चित्तं विलीयत इति दिक् । तत्र क्रियायोगस्य क्लेशतानवं दृष्टादृष्टद्वारा फलमभिमानरागद्वेषादिप्राबल्ये क्रियायोगासंभव एव, संभवे वाङ्मविकल इति स्वनिष्पत्तये स क्लेशतानवं करोति । एवं क्रियायोगेन चित्तशुद्धौ अधर्माख्यकारणतानवादविद्यादेरपि तानवं भवति । एवं योगोऽपि क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टद्वारा फलम् । तत्र सत्त्वशुद्धिरदृष्टद्वारम् । दृष्टं तु चित्तनियमनम् । एवं क्रियायोगेन क्लेशतानवे सति अन्तरा क्लेशैरप्रतिबद्धो विवेकख्यातिप्रवाहः साक्षात्कारपर्यवसायी भवति । ततस्तेन साक्षात्कारेणाग्निना दग्धवीजकल्पाः क्लेशाः प्ररोहसमर्था न भवन्ति । एषा जीवन्मुक्तिः । ततः प्रारब्धसमाप्तौ चित्तेन सह दग्धवीजकल्पा अनागतावस्थाः सूक्ष्मक्लेशाः तत्कारणे लीयन्ते । ततः कारणाभावात्पुनर्जन्माभाव इति परममुक्तिः । नच ज्ञानाच्चित्ते विद्यमान एव क्लेशानां नाशोऽस्तु किं दाहकल्पनयेति वाच्यम् । कार्यानागतावस्थाया एव कारणशक्तित्वेन शक्तेश्च यावद्भव्यभावि-तया अश्यादिनिष्ठदाहादिशक्तेर्दृष्टत्वात् चित्ते विद्यमाने तत्राशासंभवेन दाहकल्पनात् । एष एवार्थोऽग्रिमसूत्रेषु स्फुटः ॥ २ ॥

इतः परं क्लेशाः कियन्तो वा तनूकरणस्य वा किं फलमित्यादिकं महाप्रघट्टकेन प्रदर्शयितुमुपक्रमते—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्यादयः पञ्च क्लेशत्वेन परिभाषिताः । क्लेशाख्यदुःखनिदानत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ क्लेशानाह—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः । एते

पञ्च क्लेशाख्यदुःखनिदानत्वात्क्लेशा इत्यर्थः । ते हि चेतसि वर्तमानाः संसारधर्माध-
र्मकर्ममयं गुणपरिणामं द्रवयन्ति । कर्मभिः क्लेशाः क्लेशैश्च कर्माणीत्यनवस्था तु
वीजाङ्कुरवदनादित्वात् दोषाय ॥ ३ ॥

अविद्यादयोऽग्रे लक्षणीयाः । अदौ तु स्थूलसूक्ष्माणां सर्वेषामेव क्लेशानां
ज्ञाननाशयत्वं वक्ष्यमाणमुपपादयितुमविद्यामूलकत्वमन्यक्लेशानामाह—

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

उत्तरेषामस्मितादीनां प्रसुप्तादिचतुर्विधानामप्यविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरित्य-
न्वयः । यद्यप्यविद्यापञ्चकस्यान्तःकरणमेव प्रसवभूमिस्तथाप्यविनाभावरूपेणो-
पादानसाधर्म्येणात्र निमित्तकारणस्यापि प्रसवभूमित्वं गौणम्, यदेव हि वस्तु अहं-
ममेत्यविद्याविषयो भवति तत्रैव रागादिकं भवतीति । अत्र प्रसुप्तिर्ज्ञानाभ्युदय-
याऽव्यक्तावस्थयाऽवस्थानम् । ज्ञानाग्निदग्धानां हि कदाप्यनुत्पादात्प्रसवभूम्य-
संभवः । तनुत्वं तु पूर्वसूत्रे व्याख्यातम् । विच्छिन्नत्वं च अल्पप्रतिबन्धव-
शाद्यञ्जकसत्त्वेऽप्यन्तरान्तरानभिर्व्यक्तिरतः सुषुप्तितोऽस्य भेदः, व्यञ्जकविलम्बेन
द्वित्रिजन्मादिवहुकालव्याह्यानभिव्यक्तेरेव प्रसुप्तित्वात्, प्रशब्देन प्रकर्षला-
भात् । तदारब्धं चाभिव्यक्तत्वमुदारत्वमिति ॥ ४ ॥

अथ सर्वेषां क्लेशानां ज्ञाननाशयत्वमुपपादयितुमविद्यामूलकत्वमन्यक्लेशाना-
माह—अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । उत्तरेषाम-
स्मितादीनां प्रसुप्तादिभेदेन चतुर्विधानामप्यविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरित्यर्थः ॥ यद्य-
प्यन्तःकरणमेव सर्वेषां प्रसवभूमिः, तथाप्यविनाभावरूपेण तत्संश्लिष्टत्वरूपेण
चोपादानसाधर्म्येणात्रनिमित्तकारणस्यापि प्रसवभूमित्वं गौणम् । यदेव हि अहं-
ममेत्यविद्याविषयो भवति तत्रैव रागादिकं भवति । तत्र प्रसुप्तिर्ज्ञानाभ्युदय-
याऽव्यक्तावस्थया कार्योन्मुखतारूपयाऽवस्थानम् । यथा विदेहप्रकृतिलयानाम् । विवे-
कख्यातिरूपज्ञानाग्निदग्धानां न कदापि कार्योन्मुखता इति सा पञ्चमी अवस्था ।
तनुत्वं द्वितीयसूत्रे व्याख्यातम् ॥ विच्छिन्नत्वमल्पप्रतिबन्धवशाद्यञ्जकसत्त्वेऽप्यन्त-
रान्तरानभिर्व्यक्तिरतः प्रसुप्तितोऽस्य भेदः । व्यञ्जकविलम्बेन तज्जन्मपर्यन्तबहुकाल-
व्याप्यनभिर्व्यक्तेरेव प्रसुप्तित्वात्, प्रशब्देन प्रकर्षलाभात् । विच्छिन्नत्वं यथा
रागकाले द्वेषस्य द्वेषकाले रागस्य क्रोधसमाविष्टेन मिथान्नस्यापि त्यागात् । यथा वा
विषयान्तररागेण विषयान्तररागः । स हि तदा प्रसुप्ततनुर्विच्छिन्नश्च । प्रतिपक्ष-
भावनाऽप्रतिबन्धकत्वं च तनुत्वम् । उदारत्वं विषये लब्धवृत्तित्वाख्यमभिव्यक्त-
त्वम् । प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम् । विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा
विषयसङ्गिनामिति संग्रहः ॥ ४ ॥

अविद्यादीन्पञ्च क्रमेण पञ्चभिः सूत्रैर्लक्षयति—

**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखा-
त्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥**

यथासंख्यमनित्यादिचतुष्के नित्यादिचतुष्कबुद्धिरविद्येत्यर्थः । इदं चोपलक्ष-

णम् । नित्यादिचतुष्टयेऽनित्यादिचतुष्टयबुद्धिः, पापादौ पुण्यादिवुद्धिरपि विवक्षिता । तासामपि संसारहेत्वविद्यात्वात् । शुक्तिरजताद्यविद्यानां तु संसाराहेतुत्वान्नात्र [गणना] सूत्रोक्ताविद्यास्वप्ननात्मन्यात्मबुद्धिरेव संसारस्य मूलकारणमुत्तरसूत्रे वक्ष्यमाणत्वात् । “अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मतिः । अविद्यातरुसंभूतिबीजमेतद्विधा स्थित”मिति स्मृतेः । अन्यास्त्वविद्यास्तच्छेषतयैव संसारहेतव इति । तत्रानित्ये नित्यबुद्धिर्यथा ध्रुवा पृथिवी, अमृता देवाः, इत्याद्याः । अशुचौ शुचिबुद्धिश्च शरीरं पवित्रमित्यादि । तथा दुःखप्रचुरत्वादुःखे जगति सुखबुद्धिः सुखप्रचुरबुद्धिस्तृतीयाऽविद्या । तथा अनात्मनि चतुर्विंशतितत्त्वे आत्मबुद्धिश्चतुर्थी ॥ ५

तत्राविद्यालक्षणमाह—अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । यथासंख्यमनित्यादिचतुष्के नित्यादिचतुष्कबुद्धि[श्चतुर्धर्मावच्छिन्ने नित्यत्वादचतुर्धर्मावच्छिन्नत्वबुद्धिश्चा?]विद्येत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत् । नित्यादिचतुष्टयेऽनित्यादिचतुष्टयबुद्धिः पापादौ पुण्यादिवुद्धिरप्येवं तासामपि संसारहेत्वविद्यात्वात् । शुक्तिरजताद्यविद्यानां तु तदहेतुत्वान्नात्र गणना । सूत्रोक्ताविद्यास्वपि अनात्मन्यात्मबुद्धिरेव संसारबीजम् । अत्रात्मशब्द आत्मीयपरोऽपि तेनानात्मीये आत्मीयबुद्धिरपि संगृहीता । ‘अनात्मन्यात्मबुद्धिर्याऽस्वे स्वीयमिति या मतिः । अविद्यातरुसंभूतिबीजमेतद्विधा स्थितम्’ इति स्मृतेः । अन्यास्त्वविद्यास्तच्छेषतयैव संसारहेतवः । तत्रानित्ये नित्यबुद्धिर्यथा ध्रुवा पृथिवी अमृता देवा इत्यादि । तत्रैषां नित्यत्वामृतत्वे मन्यमानास्तद्भावाय तत्तदुपासनां सोमपानादिचाचरन्ति । द्वितीयाऽशुचौ शरीरे शुचिबुद्धिः ‘स्थानाद्वीजादुपष्टम्भान्निस्यन्दान्निधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ।’ स्थानं मानुदरम् । उपष्टम्भोऽशितपीतादिरसभावः । निष्यन्दः खेदः । निधनं मरणं, मृतशरीरस्पर्शं स्नानाद्युक्तेः । कामिनीनामङ्गरागादिभिः सुगन्धितेव मृज्जलादिभिराधेयशौचम् । कान्तादिमुखे चन्द्रत्वादिवुद्धिरप्येवम् । एवमपुण्ये हिंसादौ पुण्यप्रत्ययः । अर्जनादिदुःखबहुलतयाऽनर्थे धनादावर्थप्रत्ययोऽपि जुगुप्सितत्वेनाशुचित्वात् । सुखस्यापि दुःखतया वक्ष्यमाणत्वात्तन्मये जगति सुखबुद्धिः । अनेन सुखरूपमीश्वरस्य पुरुषमात्रस्य सिद्धम् । तथानात्मनि चतुर्विंशतितत्त्वात्मके आत्मत्वबुद्धिरात्मीयत्वबुद्धिश्चतुर्थी । एवं च विद्याविरोधि विपरीतज्ञानमविद्येत्युक्तम् ॥ ५ ॥

दृग्दर्शनशक्तयोरेकात्मतेवासिता ॥ ६ ॥

दृग्द्रष्टा । दृश्यतेऽनयेति दर्शनं बुद्धिः । प्रलयादौ फलोपधानं नास्तीति शक्तिपदम् । दृक्शक्तेर्दर्शनशक्तेश्चैकात्मतेव धर्मतश्च रूपतश्चात्यन्तमेकाकारबुद्धिरस्मिता । अहङ्कार इत्यर्थः । अविद्यातश्चास्मिताया अयं भेदो यद्बुद्ध्यादौ सामान्यतोऽहंबुद्धिर्भेदाभेदसहिष्णुरुदेत्यन्ताभेदाग्रहणात् सैवाविद्या । अस्मिता तु स्वतो धर्मतश्च तयोरेखण्डत्वभ्रमरूपेति ॥ ६ ॥

अस्मितामाह—दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवासिता । दृक् दृष्टा पुरुषः, दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं बुद्धिः । प्रलयादौ फलोपधानाभावाच्छक्तिपदम् । अन्योरेकात्मतेव धर्मेतः स्वरूपतश्चात्यन्तमेकाकारा बुद्धिरस्मिता अहंकार इत्यर्थः । अविद्या तु बुद्ध्यादौ सामान्यतो मेदामेदसहिष्णुः, अत्यन्तामेदाग्रहणात् । तिरस्कृतमेदा सैवासितेति बोध्यम् । वस्तुतः परिणामित्वापरिणामित्वादिधर्मैस्तयोर्भेद एव । अस्मितायां सत्यामेव भोगो भवति । तत्र भोग्यशक्तिर्बुद्धिरशुद्धाऽनुदासीना जडा च, भोक्तृशक्तिः पुरुषः सदा शुद्धः उदासीनश्चैतन्यरूपश्चेति ॥ ६ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुखतत्साधनमात्रविषयकः क्लेशो राग इत्यर्थः । मात्रपदादविद्यादिव्यावृत्तिः । क्लेशपदाजीवन्मुक्तादीच्छाव्यावृत्तिः ॥ ७ ॥

तत्रास्मितापूर्वकत्वाद्गादीनां तदनन्तरं ताल्लक्षयति—सुखानुशयी रागः । सुखे तत्साधने वा तत्त्वेन गृहीते तृष्णारूपः क्लेशो राग इत्यर्थः । क्लेशपदाच्च जीवन्मुक्तादीच्छाव्यावृत्तिः ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

सर्वं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः । दुःखे तत्साधने तत्त्वेन गृहीते यः क्रोधः स द्वेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

स्वस्य रसेन संस्कारेणैव ब्रह्मतीति स्वरसवाही । अपिशब्दसमुच्चितमविद्वांसं तथेति तच्छब्दः परामृशति । रूढः प्रसिद्धः । तथाच यथाऽविदुषः तथा विदुषोऽपि स्वरसवाहित्वहेतुना यजातीयो यत्क्लेशो भयाख्यः प्रसिद्धोऽस्ति सोऽभिनिवेश इत्यर्थः । विदुषामपि मरणत्रासकृतं भयमस्तीति भाष्यकृतोक्तम् । पूर्वपूर्वजन्मसु मरणकाले यस्मासौ जातो 'मा न भूवं भूयासम्' इत्युत्कण्ठारूपो भयनामा तज्जनितसंस्कारमात्रादविदुषामिवात्मविदामपि स जायते, न तत्राविद्यादिकं कारणमिति । एतज्जातीयं च भयसामान्यमभिनिवेशशब्देन परिभाषितमिति भावः ॥ ९ ॥

अभिनिवेशमाह—स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः । स्वस्य रसेन संस्कारेणैव ब्रह्मतीति स्वरसवाही । अपिशब्दसमुच्चितस्तथाशब्दोऽविद्वांसं परामृशति । रूढः प्रसिद्धः । एवं च विद्वदविदुषोः स्वरसवाहित्वहेतुना यजातीयः क्लेशो भयाख्यः प्रसिद्धोऽस्ति सोऽभिनिवेशः इत्यर्थः । सर्वस्य चैयं मिच्छा दृश्यते माभून्मे मृतिर्जाव्यासमिति । स च जन्मान्तरेऽनुभूतमरणत्रासस्य तत्रासस्मरणजन्यभयेनाभिनिवेशाख्येन हि इयमिच्छा । सचायं दुःखजनकत्वात्क्लेशः यथाचायं जातमात्रस्य किम्यादेस्तथा श्रुतानुमानाभ्यां ज्ञातसंसारकैवल्यतत्त्वस्य

विदुषोऽपि मरणत्रासरूपोऽभिनिवेश इत्यर्थः । एतज्जातीयं च भयसामान्यमभिनिवेशशब्देनोच्यते । ननु पञ्चमी क्लेशावस्था दग्धबीजभावावस्था कुतो नोक्तं चेन्न । पुरुषप्रयत्नसाध्यहानिका ह्युक्ता, नचैषा तथा । चित्तलये तेनैव सह तासां नाशात् । 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्मा' इति तु भाष्यमेव न सूत्रमिति वाचस्पतिस्वरसः । प्रतिप्रसवश्चित्तलयः ॥ ९ ॥

क्रियायोगः क्लेशतनूकरणार्थ इत्युक्तम् । तत्र क्लेशा व्याख्याताः । इदानीं तनूकरणस्य फलमाह—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

क्लेशानामेव संसारनिदानत्वं प्रपञ्चयिष्यते । अतस्ते क्लेशा अनागतावस्था वक्ष्यमाणज्ञानाग्निना दग्धबीजवत्कार्याक्षमीकृताः प्रतिप्रसवेन चित्तस्य प्रलयेनात्यन्तिकेन हेया धर्मिनाशेनोच्छेद्या इत्यर्थः । ननु दग्धबीजकल्पस्यानर्थहेतुत्वासंभवात्तन्नाशो न पुरुषार्थ इति चेत्तथाप्यस्य सूत्रस्य [न] स्वरूपाख्यानमात्रत्वं संभवति । वस्तुतस्तु क्लेशत्वावच्छेदेनैव दुःखनिदानतया क्लेशसामान्याभावत्वेनैव पुरुषार्थतेति ॥ १० ॥

ननु भवत्वेवं, तनूकरणस्य तु किं फलमित्याकाङ्क्षयामाह—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

तेषां क्लेशानां या वृत्तयः स्थूला अभिव्यक्तावस्थास्ताः प्रथमं क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः ध्यानेनात्मसाक्षात्काररूपप्रवाहरूपेण हातव्याः प्रतिबद्धोत्पत्तिकाः कर्तव्या इति यावत् । अभिव्यक्तिप्रतिबन्धतः क्लेशवासनानुत्पत्त्या प्राचीनवासनानां च क्षयात् एवानागतावस्थाः क्लेशाः दग्धबीजतुल्या भवन्तीत्यर्थः क्लेशानां बीजशक्तिदाहश्च वासनाख्यसहकार्युच्छेदनं यथा धान्यादौ बीजशक्तिदाहो रसाख्यसहकार्युच्छेदनमिति । तथा च क्रियायोगात्क्लेशानां तनूकरणं विवेकाभ्यासप्रतिबन्धाक्षमत्वं भवति । ततश्च निर्विघ्नविवेकख्यातिप्रवाहनिष्पत्त्या निःशेषतोऽविद्यावासनोच्छेदो भवति । ततश्च दग्धबीजकल्पा अनागतावस्थाः क्लेशाश्चित्तेन सह लीयन्त इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

तनूकृतानां हानोपायमाह सूत्रकृत्—ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः । तेषां क्लेशानां या वृत्तयः स्थूला अभिव्यक्तावस्थास्ताः प्रथमं क्रियायोगेन तनूकृतास्ता ध्यानेनात्मसाक्षात्कारप्रवाहेण हातव्याः प्रतिबद्धोत्पत्तिकाः दग्धबीजकल्पाः कार्याः । अभिव्यक्तिरूपोत्पत्तिप्रतिबन्धान्नाग्रे न वासनोत्पत्तिः । क्लेशानां बीजशक्तिदाहश्च वासनाख्यसहकार्युच्छेदनम् । यथा धान्यादौ बीजशक्तिदाहो रसाख्यसहकार्युच्छेदनम् । एवं च क्रियायोगात् क्लेशानां तनूकरणं विवेकाभ्यासप्रतिबन्धाक्षमत्वम् । ततो निर्विघ्नविवेकख्यातिप्रवाहनिष्पत्त्या निःशेषतोऽविद्यावासनोच्छेदे दग्धबीजकल्पा अनागतावस्थाः क्लेशाश्चित्तेन सह लीयन्त इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

इदानीं-क्लेशाः किमर्थ-हेया-इत्याकाङ्क्षायां क्लेशानां येनद्वारेण दुःखनिदानत्वं तद्वारमाह—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

दृष्टादृष्टजन्मनी वर्तमानभविष्यती । वेदनं भोगः । कर्माशयो धर्माधर्मौ । तथाच दृष्टादृष्टजन्मभोग्यो धर्माधर्मप्रचयः क्लेशमूलकस्तत्कार्यमित्यर्थः । “रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिवन्धनाः । कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतेः । तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः” इति कौर्मादिभ्य इति भावः ॥ १२ ॥

अथ क्लेशानां दुःखनिदानत्वे द्वारमाह—क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । दृष्टादृष्टजन्मनी वर्तमानभविष्यती, वेदनं भोगः, कर्माशयो धर्माधर्मौ । एवं च वर्तमानभाविजन्मभोग्यो धर्माधर्मप्रचयः क्लेशमूलः क्लेशकार्यमित्यर्थः । ‘रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिवन्धनाः । कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतेः । तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः’ इति कौर्मात् । तत्रोक्तद्वौ धर्माधर्मौ च वर्तमानजन्मभोग्यौ ॥ १३ ॥

न केवलं कर्माशयेष्वेव क्लेशाः कारणमपि तु तत्फलेष्वपीत्याह—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

धर्माधर्ममूले क्लेशे सत्येव धर्माधर्मयोर्विपाकः फलं जात्यायुर्भोगरूपं भवति । तत्र जातिर्जन्म । आयुर्जीवनकालः । भोगश्चात्र सुखदुःखमोहात्मकशब्दादिवृत्तिरित्यर्थः । अत्र विपाको विपाकारम्भः, भाष्यकारैर्व्याख्यातत्वात् । अतो निःशेषाऽविद्याक्षयेऽपि जीवन्मुक्तानां प्रारब्धभोग उपपद्यते । अत्र प्रमाणं च वार्तिके द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

अथ क्लेशकारणमेव तत्फलमाह—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । धर्माधर्ममूले क्लेशे सत्येव तयोर्विपाकः फलं जात्यायुर्भोगरूपं भवति । तत्र जातिर्जन्म, आयुर्जीवनकालः, भोगः सुखदुःखमोहात्मकशब्दादिवृत्तिः । अत्र भोगो मुख्यं फलम् । तन्नान्तरीयके च जन्मायुषी । क्लेशस्य सत्ता च प्रसंख्यानदग्धवीजभावेनैव । अत्र विपाको विपाकारम्भः । अतो निःशेषाविद्याक्षयेऽपि जीवन्मुक्तानां प्रारब्धभोग उपपद्यते । अत्रेदं बोध्यम् । (१) एकं कर्म नैकस्य जन्मनः कारणम् । एकस्मिन्नपि जन्मनि विचित्रविचित्रसुखदुःखानुभवात् । अनादिकालानेकजन्मार्जितासंख्येयकर्मणां मध्ये एकजन्मोपभूतैकैककर्मणोऽवशिष्टकर्मणां फलदाने विनिगमनाविरहाच्च । सत्प्रतिपक्षन्यायेन सर्वेषां फलदानप्रतिबन्धे कर्मानुष्ठानेऽनाश्वासापत्तेश्च । (२) नाप्येकमनेकस्य । एकस्यैवानेकजन्मनिमित्तत्वेऽन्येषां विपाककालाभावेन तद्वैफल्ये तदननुष्ठानापत्तेः । उक्तदोषाच्च । (३) नाप्यनेकं कर्मानेकजन्मकारणम् । अयोगिनामनेकजन्मनां युगपदसंभवेन क्रमेणैव वाच्यतया तत्तज्जन्मसु क्रियमाणकर्मणां विपाककालाभावेन तत्र तत्र कर्माननुष्ठानापत्तेः । (४) तस्मा-

जन्ममरणान्तरे कृतकर्मसमूहो विचित्रफलद उद्भूतत्वादिभिः क्रमेण फलदो मरणेन कार्यारम्भाभिमुख्यं नीतः युगपदेकलोलीभावापन्न एकं जन्म करोति, तेनैव कर्मणा तत्र लब्धायुष्को भोगवांश्चेति स त्रिविपाकः; एवमेषः अदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः । एकजन्मावच्छिन्नक्लेशकर्मविपाकानुभवजाः स्मृतिहेतुसंस्काररूपा वासनास्तु अनादयोऽनेकजन्मपूर्विकाः । अतएव मनुष्यस्तिर्यग्योनिमापन्नस्तज्जातीयोचितभोजने प्रवर्तते । स कर्माशयो द्विविधः । आरब्धफलोऽनारब्धफलश्च । तत्रारब्धफल उक्त एकजन्मावच्छिन्नः । अनारब्धफलोऽपि त्रिविधः शुक्लः कृष्णः शुक्लकृष्णश्च । परपीडारहिततपःस्वाध्यायादिराद्यः स उदित एवान्ययोर्द्वयोर्नाशक इति तस्यैका गतिरनारब्धफलस्य । किञ्चित्तु कृष्णं कर्म यज्ञान्तर्गतपशुहिंसादिजन्यं पापम् । अनारब्धफलमपि प्रधानकर्मविपाकेन सहात्मफलदम् । एतदेव प्रधानकर्मण्यावापगमनम् । एतदन्तर्गतपशुहिंसादि च प्रधानाङ्गत्वेन विधानात् तदुपकारकं, न हिंसादिति निषेधात्पापजनकं च ॥ एतदेव यज्ञादि कृष्णशुक्लम् । किञ्चित्त्वनारब्धफलमारब्धविपाककर्मणाऽभिभूतं चिरमवतिष्ठते यावत्तदमिव्यञ्जककालागमनम् । दृष्टजन्मवेदनीयस्तु एकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात् । द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वात् । एवं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति भाष्ये स्पष्टम् ॥ १३ ॥

उक्ताभ्यां कर्मतद्विपाकाभ्यां द्वाराभ्यां क्लेशानां मुख्यं फलमनर्थमाह—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

ते विपाकाः सर्व एव समुचितसुखदुःखफलकाः समुचितपुण्यापुण्यहेतुत्वादित्यर्थः । सुखदुःखयोश्च फलं पुरुषस्य भोग इति प्रसिद्धत्वाच्चेतम् । तदित्यमनर्थहेतुत्वात्क्लेशास्तनूकरणादिक्रमेण हेया इति प्रघट्टकार्थः ॥ १४ ॥

अथैतेषां सर्वेषां लाज्यतामूलं विपाकानां फलमाह—ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् । ते जन्मायुर्भोगाः समुचितपुण्यापुण्यहेतुकत्वात्समुचितसुखदुःखफलका इत्यर्थः । एवं पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुकाश्च दुःखफला इति । ननु सुखदुःखानन्तरभावी तदनुभवात्मा भोग इति कथं भोगफलत्वमेतयोरिति चेन्न । भोगविषयतामात्रेण तत्फलत्वात् । यद्वा कर्मकरणव्युत्पत्त्या भोगशब्देन विषया इन्द्रियाण्येव तत्र, अत्र च सुखदुःखशब्दौ तद्भोगपरौ । तदित्यमनर्थहेतुत्वात्क्लेशाः तनूकरणादिक्रमेण हेया इति प्रघट्टकार्थः ॥ १४ ॥

नन्वेवं यथा दुःखनिदानत्वेन क्लेशा हेयास्तथा सुखनिदानत्वेनोपादेया अपि सु्युस्तत्राह—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च

दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तज्जन्यानि दुःखानि । तैः संबन्धात्तत्कारणत्वादिति यावत् । तथा गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहास्ता-

सामेककालानवस्थानरूपविरोधाभावाच्च सर्वं प्रकृतितत्कार्यसुखादिकं विवेकिनः सुखदुःखतत्त्वसाक्षात्कारिणो दुःखमेव मतम्, दुःखकारणत्वदुःखसंमिश्रत्वाभ्यामित्यर्थः । तथाच सुखरागापेक्षया दुःखद्वेषस्य बलवत्त्वात्सुखापेक्षया दुःखप्राचुर्याच्च सुखमपि दुःखयोगाद्देयमिति भावः । तत्र परिणामदुःखं यथा सुखभोगकाले सुखे रागो हिंसादिकं च तन्नान्तरीयकं भवति । ताभ्यां चादृष्टादिद्वारोत्तरकाले दुःखमिति । तापदुःखं च दुःखकालेऽप्यनुतापादिभिर्दुःखान्तरम् । संस्कारदुःखं तु सुखदुःखसंस्कारात्तत्साधनेषु प्रवृत्तिनिवृत्त्याद्युत्थं दुःखमिति गुणवृत्त्यविरोधात्सुखकालेऽपि सूक्ष्मं दुःखमनुमेयं, सर्वकार्याणां त्रिगुणात्मकत्वादिति ॥ १५ ॥

ननु दुःखनिदानत्वेन हेयत्वत्सुखनिदानत्वेनोपादेयत्वमपि स्यादत आह—
परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनः । परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तज्जन्यानि दुःखानि तैः संबन्धात् तत्कारणत्वात्, तथा गुणानां सत्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहास्तासामेककालानवस्थानरूपविरोधाभावाच्च सर्वं प्रकृतितत्कार्यसुखादिकं च विवेकिनः सुखदुःखतत्त्वसाक्षात्कारवतो दुःखमेव मतम् । दुःखकारणत्वदुःखसंमिश्रत्वाभ्यामित्यर्थः । तथाच सुखरागापेक्षया दुःखद्वेषस्य बलवत्त्वात्सुखापेक्षया दुःखस्य प्राचुर्याच्च सुखमपि दुःखयोगाद्देयमिति भावः । तत्र परिणामदुःखं यथा सुखभोगकाले सुखे रागस्तत्प्रतिघातके द्वेषः । विना प्राणिवधमुपभोगाभावेन हिंसादिकं च तन्नान्तरीयकं भवति । ताभ्यां चादृष्टादिद्वारोत्तरकाले दुःखमिति । अतएव विषयसुखमविद्या विपर्यासलक्षणेति वृद्धाः । नच विषयतृष्णैव दुःखं भोगेन तृप्तौ तन्नितृप्तिरेव सुखमिति तस्या रागानुविद्धत्वाद्यभावेन न परिणामदुःखतेति वाच्यम् । तृष्णाक्षयस्य सुखत्वेऽपि भोगाभ्यासस्य तदनुपायत्वात् । तेन तृष्णावृद्धेरेव दर्शनात् । तस्याश्च दुःखरूपत्वात् किंच तृष्णाक्षयसुखस्यापि बुद्धिधर्मत्वेन त्रिगुणत्वादुःखरूपतया हेयत्वमेवेति जैगीपव्यव्याधसंवादेन भाष्ये दर्शितं तृतीयपादे । तापदुःखं च सुखकालेऽन्यदीयाधिकसुखं दृष्ट्वा तापजं दुःखम् । तस्य द्वेषानुविद्धत्वाद्वेषजः कर्माशयः । तथा सुखसाधनप्रार्थनया कंचिदनुगृह्णाति कंचित्पीडयति । तत्र परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मोपचयो भवतीत्येषा तापदुःखता । संस्कारदुःखं च सुखानुभवात्संस्कारातिशयेन तत्स्मरणं ततस्तदुपपादके रागस्तदुपघातके द्वेषः, ताभ्यां कर्माणि तेभ्यो विपाकास्ततस्तदनुभवस्ततो वासनेति । तदिदमनादिदुःखस्रोतो योगिनमेव क्षिन्नाति निर्मलचित्तत्वात् । यथोर्णातन्तुरक्षिण न्यस्तो दुःखयति नान्यगात्रेषु । इतरं पृथग्जनं स्वकर्मोपहतमुपात्तं दुःखं त्यजतं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्तिरूपयाऽविद्यया हातव्येऽहंकारममकारौ कुर्वाणं सर्वे तापा उपतिष्ठन्ते । योगी त्वनादिदुःखोपहतः सर्वदुःखनाशकसम्यग्दर्शनमेव शरणीकरोति । गुणवृत्त्यविरोधाच्चेति । गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि बुद्धिरूपेण परिणताः परस्परानुग्राहकस्वभावतयाऽविरुद्धास्त्रिगुणमेव सर्वा वृत्तिं जनयन्ति । उपादानकारणस्य त्रितयात्मकत्वात्कारणामेदाच्च कार्यस्य । तेन सुखवृत्तिकालेऽपि सूक्ष्मं दुःखमनुसंषेयम्, क्षिप्रपरिणामितया

चित्तस्यात्यन्तास्थिरत्वाच्च । तद्वृत्तेरपि दुःखमयत्वं च । स्थूलसुखा सूक्ष्मदुःखा सुख-
वृत्तिरित्युच्यते । स्थूलदुःखा सूक्ष्मसुखा च दुःखवृत्तिः । न संकरः । स्थूलानां
स्थूलैः सह विरोधेऽपि सूक्ष्मैः सहाविरोध एव । उपादानकारणेनाप्यत्यन्ताभेदा-
भावाद्बुद्धेः सुखमित्यादिव्यपदेशस्यापि न हानिः । सामान्यरूपेणाभेदः स्थूलात्मना
च भेद इत्यवगन्तव्यम् । अस्य च महतो दुःखस्य मूलमविद्या । विवेकसाक्षात्का-
राच्च तच्चिद्वृत्तौ तन्मूलक्लेशान्तराणां निवृत्तिः । ततः कारणाभावाद्वर्माद्यनुत्पत्तिः ।
अनारब्धफलैश्च संचितकर्मभिः क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदात्फलानुत्पादः । आरब्ध-
फलकर्मणां च भोगादेव नाशे सति देहपाते कारणाभावादपुनर्जन्म । तदेव च
दुःखनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति दिक् । तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहं, हेयं, हेयहेतुः, हानं,
हानोपाय इति । दुःखं हेयम् । दुःखहेतुरविद्या । दुःखात्यन्तनिवृत्तिः हानम् । विवे-
कसाक्षात्कारो हानोपायः । उपकरणसंग्रहाय सर्वत्र व्यूहपदं राश्यर्थकम् ॥ १५ ॥

तदेवमत्र पादे व्युत्थितचित्तस्य योगसाधनं क्रियायोगमुक्त्वा तत्फलप्रसङ्गेन
क्लेशास्तद्धानप्रकारस्तेषां हेयत्वाय दुःखनिदानत्वं दुःखत्वं च प्रतिपादितम् ।
इदानीं संक्षेपेणोक्तं समस्तशास्त्रार्थमतिविस्तरतः प्रतिपादयिष्यति शास्त्रसमाप्ति-
पर्यन्तैः सूत्रैः । तदादौ योगफलं परमपुरुषार्थमाह—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अतीतं स्वयमेव गतं, वर्तमानं च बहुकालसाध्यसाधनानुष्ठानात्प्रागेव
तृतीयक्षणे नद्ध्यति । अतः परिशेषादनागतावस्थमेव दुःखं योगादिभिर्हेय-
मित्यर्थः ॥ १६ ॥

तत्रादौ हेयमाह—हेयं दुःखमनागतम् । अतीतं स्वयमेव नष्टम् । वर्त-
मानं बहुकालसाध्यसाधनानुष्ठानात्प्रागेव तृतीयक्षणे नद्ध्यति । परिशेषादनाग-
तावस्थमेव दुःखं योगेन हेयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

हेतूच्छेदे पुरुषव्यापाराद्देयहेतुं प्रदर्शयति—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

सुखदुःखमोहात्मकाखिलदृश्याकारत्वेनाखिलदृश्यरूपया बुद्ध्या द्रष्टुः पुरु-
षस्य जन्माख्यः संयोगविशेषो दुःखहेतुरित्यर्थः ॥ १७ ॥

हेतूच्छेदे पुरुषव्यापाराद्देयहेतुमाह—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।
सुखमोहदुःखात्मकाखिलदृश्याकारत्वेनाखिलदृश्यरूपया बुद्ध्या तादृशबुद्धिप्रतिवि-
म्बत्वेन द्रष्टुः पुरुषस्य यः संयोगो भोग्यभोक्तृत्वनियामको जन्माख्यः स दुःख-
हेतुरित्यर्थः । दृश्यं हि अयस्कान्तमणिः स्वसंनिधिमात्रेण लोहमिव पुरुषमाकर्षति ।
पुरुषायात्यन्ताभेदेनात्मानं दर्शयति । तावतैव तद्रूपानुभवविषयतां चापद्यते । इद-
मेव च तस्य दृश्यत्वम्, पुरुषस्य द्रष्टृत्वं च भोग्यभोक्तृत्वं च तत्त्वामित्वं च । स च
संयोगोऽनादिनिमित्ताविद्याप्रभवतयाऽनादिः । क्लेशकर्मतद्वासनासंतानोऽयनादिः ।
प्रतिसर्गावस्थायां सहान्तःकरणेन प्रधानसाम्यमुपगतोऽपि सर्गादौ पुनः कालव-

शादेव तादृगेव भवति । वर्षालये मृद्भावावमुपगतो मण्डूको यथा वृष्टौ पुनर्मण्डूक-
भावमापद्यते तद्वत् । अयं हि संयोगश्चित्तस्यैव दुःखहेतुस्तस्मिन् दुःखिते तदा-
कारानुरोधी दुःखित इवेति दिक् ॥ १७ ॥

द्रष्टृदृश्यसंयोगः सूत्रैर्लक्षणीयस्तत्रादौ दृश्यस्वरूपं लक्षयति—

**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाप-
वर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥**

अलये प्रकाशादिकार्याभावाच्छीलपदम् । अत्र प्रकाशो बुद्धिवृत्त्यादिरूपा-
लोकः । क्रिया प्रयत्नचेष्टादिः । स्थितिश्च प्रकाशक्रिययोः प्रतिबन्धः । एतन्नय-
शीलं यच्छास्त्रप्रसिद्धं सत्त्वादिगुणत्रयं तद्दृश्यं पुरुषभोग्यत्वेन दृश्यशब्दवाच्यम् ।
तस्य प्रकाशादिरूपतायां हेतुगर्भं विशेषणं भूतेन्द्रियात्मकमिति । स्थूलसू-
क्ष्माणां भूतानां कारणं तेन स्थितिशीलत्वं लब्धम् । स्थूलसूक्ष्माणामिन्द्रियाणां
च कारणम् । तेन प्रकाशक्रियाशीलत्वं लब्धम् । तत्र स्थूलेषु दशेन्द्रियेषु हेतु-
त्वात्क्रियाशीलत्वम् । सूक्ष्मेषु चान्तःकरणरूपेन्द्रियेषु हेतुत्वात्प्रकाशशीलत्वम् ।
इति गुणानां स्वरूपसत्ता । [तत्प्रवृत्तेः] प्रयोजनमाह भोगापवर्गार्थमिति । पुरु-
षस्य भोगापवर्गावेवार्थो यस्य तथेत्यर्थः ॥ १८ ॥

तत्र दृश्यपदार्थमाह—प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भो-
गापवर्गार्थं दृश्यम् । अलये प्रकाशादिकार्याभावाच्छीलपदम् । तत्र प्रकाशो
बुद्धिवृत्त्यादिरूपालोकस्तच्छीलं सत्त्वम् । क्रिया प्रयत्नचेष्टादिस्तच्छीलं रजः । स्थितिः
प्रकाशक्रिययोः प्रतिबन्धस्तच्छीलं तमः । ते गुणाः परस्पोपरक्ता इतरेतराश्रयेण
कार्यमारभन्ते । तत्र क्वचित्कार्ये जननीये एकस्य प्राधान्यमपरयोः सहकारि-
त्वम् । यथा दिव्यशरीरे जनयितव्ये सत्त्वं प्रधानं, मानुषे रजः, तिर्यक्शरीरे-
तमः । ते च पुरुषस्य भोगापवर्गार्थं संनिधिमात्रोपकारकतया प्रवर्तन्ते ।
तदाह—भूतेन्द्रियात्मकमिति । तत्र स्थूलसूक्ष्मभूतकारणत्वेन स्थितिशीलत्वं,
स्थूलदशेन्द्रियहेतुत्वात्क्रियाशीलत्वं, अन्तःकरणरूपसूक्ष्मेन्द्रियहेतुत्वात्प्रकाशशील-
त्वम् । तत्प्रवृत्तेः प्रयोजनमाह—भोगापवर्गार्थमिति । तत्र सुखदुःखरूपाया बुद्धेः
पुरुषेणाविभागापन्नतयावधारणं भोगः । भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति
भाष्यम् । तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ योद्धृगतजयपराजयौ
राजनीच पुरुषे व्यपदिश्येते । बन्धमोक्षावप्येवमिति च भाष्यम् ॥ १८ ॥

नन्वेवं कारणरूपस्य सत्त्वादिगुणत्रयस्यैव दृश्यत्वं प्राप्तं न विकाराणामित्यतो
गुणपर्वविधया कार्यकारणभेदस्तानपि संगृह्णातीत्याह—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वणि ॥ १९ ॥

सत्त्वादिगुणात्मको वंशः, तस्य विशेषादीनि पर्वणि पञ्चशाखाङ्कुरबीजवद-
भेदात् नात्यन्तं सिन्नानीत्यर्थः । तत्र विशेषाः षोडश विकारा एकादशेन्द्रियप-

अमहाभूतरूपाः । अविशेषाश्च पञ्चतन्मात्राहङ्काररूपाः पद । लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम्, अलिङ्गं च साम्यावस्थितिः ॥ १९ ॥

दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदमाह—विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुण-
पर्वाणि । सत्त्वादिगुणात्मकस्य वृक्षस्य पत्रशाखाङ्कुरबीजवदवस्थाभेदादेतानि
पर्वाणि नात्यन्तं भिन्नानीत्यर्थः । तत्र विशेषाः एकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतरूपाः
षोडशविकाराः शान्तघोरमूढलक्षणविशेषवत्त्वात् । तद्राहिल्याच्च पञ्चतन्मात्राहंका-
ररूपाः षडविशेषाः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तन्मात्राणि एकद्वित्रिचतुःपञ्चलक्ष-
णानि । आत्मना पूर्वेण शब्देन च द्विलक्षणं स्पर्शतन्मात्रमेवमुत्तरोत्तराणि आत्मना
पूर्वाभ्यां पूर्वैश्च त्रिचतुःपञ्चलक्षणानीति बोध्यम् । सकलपुरुषार्थस्य शब्दादिभो-
गसत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपस्य गमकत्वेन महत्तत्त्वं लिङ्गमात्रम् । कापि लयाग-
मनादलिङ्गं प्रधानम् । तच्च गुणानां साम्यावस्थारूपम् । तच्च पुरुषार्थक्रिया-
क्षमत्वरूपसत्ताभावादसत्, कार्यजनकत्वरूपसत्तावत्त्वात्सदिति चोच्यते । न सत्
नासदिति चोच्यते ताभ्यां च । पुरुषार्थहेतुत्वासंभवात्सा नित्या । यदि सा भोगा-
दिरूपपुरुषार्थहेतुः स्यात्तदा साम्यावस्थात्वमेव भज्येत । एवं च तस्याः पुरुषार्थका-
रणत्वाज्ञानान्न सा स्वतः पुरुषार्थहेतुरतो नित्या । महदाद्यवस्थास्तु पुरुषार्थहेतुत्वाद-
नित्याः । तदुत्पत्तिलयव्यवहारेणैव गुणानां तद्व्यवहारो नतु स्वतो गुणानामुत्पत्तिर्ल्यो
वास्ति । यथा धननाशाद्देवदत्तस्य नष्टव्यवहारः ॥ १९ ॥

सूत्राभ्यां दृश्यशब्दार्थो व्याख्यातः । द्रष्टृशब्दार्थो व्याख्यायते—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

दृशिमात्रो ज्ञानमात्ररूपः द्रष्टृशब्दार्थः । तत्र प्रमाणमाह शेषेण, स च
शुद्धोऽपीति । निर्विकारोऽपि प्रत्ययानुपश्यः । प्रत्ययं बौद्धं वृत्तिजातं तद-
नुकारीव सन्पश्यति । वृत्तेः स्वेनैव ग्रहणे कर्मकर्तृविरोधाद्बुद्धिप्रवाहकल्पने
चानवस्थानाद्बुद्धिसाक्षितया पुरुषः सिद्ध्यतीत्यर्थः । निर्विकारस्याप्यर्थग्रहणमनु-
शब्देनोपपादितम् । वृत्तेर्ह्यर्थग्रहणमर्थाकारतारूपो विकारः स्वप्नादौ सिद्ध
एवास्ति । अतस्तद्द्रष्टान्तेन पुरुषस्यापि वृत्तिग्रहणं वृत्त्याकारता वाच्या । साच
वृत्तिप्रतिबिम्बरूपा वृत्त्यनुकारितेति ॥ २० ॥

अथ द्रष्टृपदार्थमाह—द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।
दृशिमात्रो ज्ञानमात्ररूपः । एतेन ज्ञानधर्मकत्वं निरस्तम् । स बुद्धेः प्रतिसंवेदी
तदविभागापन्न इति यावत् । अविभाग एव च प्रतिबिम्ब इत्युच्यते । स च तया
नात्यन्तमभिन्नः । कदाचिदेव तत्तद्विषयाकारताधारणेन तस्याः परिणामिनीत्वात् ।
संप्रज्ञातव्युत्थानयोः सदा ज्ञातविषयत्वेनापरिणामित्वात्पुरुषस्य । परिणामी तु न सद्
ज्ञातविषयो यथा श्रोत्रादिः । किंच बुद्धिः परार्था क्लेशकर्मवासनाविषयेन्द्रियादिभिः सह
पुरुषार्थकारित्वात्, शय्यादिवत् । पुरुषस्तु नैवमिति नात्यन्ताभेदः । नात्यन्तभिन्नो
व्युत्थानदशायां यतः शुद्धोऽप्यपरिणाम्यपि प्रत्ययं बौद्धं प्रत्ययं वृत्तिजातमनुकुर्वन्निव

पश्यति विषयजातमित्यर्थः । तमनुकुर्वन्नतदात्मापि तदात्मक इव भाति । तदुक्तं—‘प्राप्तचैतन्याभेदाया बुद्धिवृत्तेरनुकारणम् । तदविशिष्टः स आख्यायत’ इति भाष्ये । वृत्तेः स्वेनैव ग्रहणे कर्तृकर्मविरोधः, वृत्तिप्रवाहकल्पने चानवस्थास्तत्तात्साक्षी तदविभागमापन्नः पुरुषः सिध्यति । वृत्तेरर्थग्रहणं ह्यर्थाकारतारूपो विकारः । तद्वृष्टान्तेन पुरुषस्यापि वृत्तिग्रहणं वृत्त्याकारतैव । सा चोक्तप्रतिबिम्बरूपा वृत्त्यनुकारितैवेति दिक् ॥ २० ॥

द्रष्टरि प्रमाणान्तरमाह—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

तस्य द्रष्टृरर्थः प्रयोजनं भोगापवर्गावेव प्रयोजनं यस्य स तदर्थः । तथाच द्रष्टुर्भोगापवर्गप्रयोजनकमेव दृश्यस्यात्मा स्वरूपं कार्यकारणात्मकं गुणत्रयं न स्वार्थमित्यर्थः । तथा च—गुणाः परार्थाः, संहत्यकारित्वात्, शय्यादिवदित्यनुमानेन प्रकृत्यादिभ्योऽतिरिक्तस्य द्रष्टुः सिद्धिरिति भावः । संहत्यकारित्वं स्वकार्ये सहकारिसापेक्षत्वम् ॥ २१ ॥

अथ संयोगाद्दृश्यस्य द्रष्टृत्वमाह—तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा । तस्य द्रष्टृरर्थः प्रयोजनं भोगापवर्गावेव प्रयोजनं यस्य स तदर्थः । द्रष्टुर्भोगापवर्गफलकं दृश्यस्यात्मा स्वरूपं कार्यकारणात्मकं गुणत्रयं न स्वार्थमित्यर्थः । यतो दृश्यमेव पुरुषस्य भोग्यम् । यतो रूपशब्दादयो विषयाः सुखदुःखात्मतयानुकूलयितारः प्रतिकूलयितारश्च । अनुकूलनीयादिश्चेतनः पुरुष एव । न स्वात्मा कर्तृकर्मविरोधात् । किं च यतो दृश्यस्वरूपं यावत्पुरुषार्थमनुवर्तते तन्निवृत्तौ च निवर्ततेऽतो न स्वार्थम् । तदनेन गुणाः परार्थाः संहत्यकारित्वाच्छय्यादिवदित्यनुमानं प्रकृत्याद्यतिरिक्तपुरुषे मानमपि दर्शितम् । संहत्यकारित्वं स्वकार्ये सहकारिसापेक्षत्वम् ॥ २१ ॥

ननु पुरुषार्थमेव चेत्प्रकृत्यादिकं तर्हि पुरुषस्य मुक्तौ तत्सर्वं नश्येत्, स्थितिहेतोः पुरुषार्थस्याभावादिति । तत्राह—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

कृतार्थं समाप्तपुरुषार्थमेकं कञ्चिन्मुक्तरूपं प्रति गुणादिकं प्रयोजनाकरणाद्वाज्ञो राज्यवन्नष्टमप्यर्थक्रियाकारित्वरूपसत्ताशून्यमपि सर्वथा न नष्टम् । कस्मात्कृतार्थेऽन्यपुरुषे च तस्य साधारणत्वादित्यर्थः । तथा च पुरुषान्तराणामर्थैः प्रकृत्यादिस्थितिरिति भावः ॥ २२ ॥

नन्वेवं पुरुषस्य भोगापवर्गसमाप्तौ निष्प्रयोजनत्वाद्विरतव्यापारं स्यात् । स्थितिहेतोः पुरुषस्यार्थस्याभावात् । नश्येतैव वा । एवंच संसारोच्छेदः स्यादत आह—कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् । क्वचित्कृतार्थं समाप्तपुरुषार्थं प्रति गुणादिकं प्रयोजनाकरणात् नष्टमपि अर्थक्रियाकारित्वरूपसत्ताशून्य-

मपि न नष्टं तदन्योऽकृतार्थस्तत्साधारणत्वादित्यर्थः । एवं च पुरुषान्तराणामर्थे प्रकृत्यादिस्थितिः प्रवृत्तिश्चेति भावः । प्रधानस्यैकत्वं पुरुषस्यानेकत्वं च 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इति श्रुतिराह । एकत्वश्रुतयश्च देशकालविभागाभावेन गौणाविभागरूपत्वपरा इति दिक् ॥ २२ ॥

अत्र सूत्रेषु पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । द्रष्टृदृश्ये व्याख्याते तयोः कीदृशः संयोगो हेयहेतुस्तदुच्यते ।

स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

प्रलये भोग्यभोक्तृभावाभावाच्छक्तिग्रहणम् । स्वस्वामिशक्तिकयोर्भोग्यभोक्तृत्वयोग्ययोर्दृश्यद्रष्टोः स्वरूपोपलब्धी विषयभोगात्मदर्शने तयोर्हेतुर्यः संयोगविशेषो जन्माख्यः स एव पूर्वसूत्रे द्रष्टृदृश्यसंयोगशब्दार्थः । द्रष्टृदृश्यसंयोगसामान्यस्य सार्वकालिकत्वेन हेयाहेतुत्वाद्वक्ष्यमाणज्ञाननिवर्त्यत्वासंभवाच्चेति भावः ॥ २३ ॥

अत्र तयोः संयोगमाह—स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः । प्रलये भोग्यभोक्तृत्वाभावाच्छक्तिग्रहणम् । स्वं भोग्यं, स्वामी भोक्ता । स्वरूपयोः दृश्यपुरुषस्वरूपयोः उपलब्धिर्विषयभोगात्मदर्शनरूपा तस्या हेतुर्यः स्वस्वबुद्धिजन्माख्यः स एव जातोऽहमित्यादिवुद्धिविषयत्वरूपः संयोग इत्यर्थः । संयोगसामान्यस्य सार्वकालिकत्वेन हेयाहेतुत्वाद्वक्ष्यमाणज्ञाननिवर्त्यत्वासंभवाच्चेति भावः । सम्यग्दर्शनाद्भोगकारणाविद्यानाशे भोगाभावरूपो बन्धाभाव एव मोक्षः । अत आत्मदर्शनमपि संयोगहेतुकमेवेति दिक् ॥ २३ ॥

द्रष्टृदृश्यसंयोगस्यापि कारणं दर्शयति—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

तस्य जन्माख्यस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्याविद्या मूलकारणमित्यर्थः । अविद्याशब्देनात्रानात्मन्यात्मबुद्धिरूपमिथ्याज्ञानवासना ग्राह्या । तस्या एव जन्मप्राक्काले संभवाद्वाङ्माण्यकृतोक्तत्वाच्च ॥ २४ ॥

तस्य संयोगस्य कारणमाह—तस्य हेतुरविद्या । तस्य जन्माख्यस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्याविद्या मूलकारणमित्यर्थः । अविद्याशब्देनात्रानात्मन्यात्मबुद्धिरूपमिथ्याज्ञानवासना तस्या एव जन्मप्राक्काले संभवात् । सर्गान्तरीयाविद्यायाः स्वाश्रयचित्तेन सह प्रधाने निरुद्धायाः प्रधाने स्थिता या वासना तद्वासितं च प्रधानं पुनः सर्गादौ अविद्याविशिष्टमेव चित्तं तत्पुरुषसंयोगि, सृजति । एवं पूर्वपूर्वसर्गेष्वित्यनादितास्याः । अविद्यावासनासत्त्वादेव च प्रलये न मुक्तिः । यदा तु विवेकख्यातिर्धर्ममेघसमाधिरूपां निष्ठां प्राप्ता तदा दग्धवीजतुल्यसवासनचित्तनिवृत्त्या स्वरूपमात्रेण पुरुषस्थितिरूपो मोक्षः ॥ २४ ॥

तदेवं हेयहेतुरूपं व्यूहद्वयं प्रतिपादितं, हानव्यूह इदानीमुच्यते—

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

तस्याश्चाविद्याया अत्यन्तोच्छेदाज्जन्माख्यसंयोगात्यन्तनिवृत्तिर्हानं दुःखात्यन्तोच्छेदरूपो मोक्षः कार्यकारणभेदात्तदेव च दृशेः चैतन्यस्य कैवल्यमित्युच्यते । तद्वितीयासङ्गरूपत्वादित्यर्थः ॥ २५ ॥

हेयहेतुरूपं व्यूहद्वयं प्रतिपादितम् । इदानीं हानमाह—तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् । तस्या अविद्याया अभावात्सवासनाया दाहात् जन्माख्यसंयोगस्यात्यन्तनिवृत्तिर्हानमात्यन्तिकदुःखोपरमरूपो मोक्षः । कार्यकारणभेदात् । तदेव दृशेः चैतन्यस्य कैवल्यमसंगतेत्यर्थः । ननु पुरुषस्य नित्यनिर्दुःखत्वात्कथं दुःखहानिः पुरुषार्थ इति चेन्न । भोग्यस्वरूपस्वत्वसंबन्धेनैव दुःखहानस्य पुरुषार्थत्वात् । यद्यपि भोगोऽपि साक्षात्काररूपो नित्य एव तथापि घटाकाशवदनित्यता । दुःखभोगस्य दुःखवृत्त्यविभागापन्नत्वेनावधृतचित्स्वरूपत्वादिति दिक् ॥ २५ ॥

इतः परं हानोपायव्यूहं चतुर्थस्यापि कियत्पर्यन्तं प्रपञ्च्यते—

विवेकख्यातिरविष्टवा हानोपायः ॥ २६ ॥

मिथ्याज्ञानवासनयाऽन्तराभिभवो विष्टवस्तद्रहितो विवेकतः पुरुषसाक्षात्कारो मोक्षोपायः सवासनाविद्योन्मूलनद्वारेत्यर्थः । नन्वेवं ज्ञानादेव मोक्ष इति वचनादसंप्रज्ञातयोगवैफल्यमिति चेन्न । ज्ञानद्वारतया ज्ञानमध्य एवासंप्रज्ञातान्तर्भाव इत्याशयादिति ॥ २६ ॥

अथ हानोपायमाह—विवेकख्यातिरविष्टवा हानोपायः । मिथ्याज्ञानवासनयान्तराभिभवो विष्टवस्तद्रहिता विवेकख्यातिः प्रकृतिविवेकतः पुरुषसाक्षात्कारो मोक्षोपायः सवासनाविद्योन्मूलनद्वारेत्यर्थः । नन्वेवं ज्ञानादेव मोक्षश्रुतेरसंप्रज्ञातो निष्फल इति चेन्न, ज्ञानद्वारतया ज्ञानमध्ये तदन्तर्भाव इत्याशयात् ॥ २६ ॥

विवेकख्यातेरविष्टवाख्यनिष्ठाया लक्षणमाह—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

तस्य विवेकख्यातिरूपस्य हानोपायस्य प्रान्तभूमिकारूपिणी प्रज्ञा योगजसाक्षात्काररूपिणी सप्तप्रकारा भवति । तद्यथा हेयं दुःखं मया परिज्ञातमतः न मेऽत्र किमपि ज्ञातव्यमवशिष्यते इत्येका प्रज्ञा जायते । तथा विवेकख्यातिरूपो हानोपायो मया निष्पादितो नास्य निष्पाद्यमवशिष्यते । तत्फलानुभवादिति द्वितीया । तथा हेयहेतवोऽविद्याकामकर्मादयो समाशेषतः क्षीणाः । न तेषां ज्ञातव्यमवशिष्यत इति तृतीया । तथा दुःखहानरूपं मोक्षाख्यफलं तद्गोचरासंप्रज्ञातयोगेन साक्षात्कृतं न पुरुषार्थस्यापि ज्ञातव्यमवशिष्यत इति चतुर्थी प्रज्ञा । तदेतत्स्वस्य कृत्यसमाख्यनुभवरूपं प्रज्ञाचतुष्टयमुक्तम् । भावि विदेहकैवल्यकालीनावस्थानुभवरूपं चान्यप्रज्ञात्रयं यथा—समाप्तभोगापवर्गा मे बुद्धिर्भवि-

प्यतीत्येवमाकारा प्रथमा । तथाबुद्धिरूपेण परिणताः सत्त्वादयो गुणाः स्वकारणे लयमेप्यन्तीत्येवमाकारा द्वितीया । तथाप्रलीनानां तेषां न पुनर्बुद्धिरूपेण परिणामो भविष्यतीत्येवमाकारा तृतीयेत्येवं सप्तप्रकारोऽनुभवो यस्य विदुषो जायते तस्य ज्ञाननिष्ठा सद्योमुक्तिदा ज्ञातव्येत्यर्थः ॥ २७ ॥

विवेकख्यातेरविप्लवाख्यनिष्ठायाः फलमाह—तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा । तस्य विवेकख्यातिरूपहानोपायस्य प्रान्तभूमिकारूपिणी प्रज्ञा योगजसाक्षात्काररूपिणी सप्तप्रकारा भवति । तद्यथा हेयं दुःखं मया परिज्ञातं न मे ज्ञातव्यमवशिष्यत इत्येका प्रज्ञा । विवेकख्यातिरूपो हानोपायो निष्पादितो न निष्पाद्यमवशिष्यते तत्फलानुभवादिति द्वितीया । हेयहेतवोऽविद्याकामकर्मादयोऽशेषतः क्षीणा न किञ्चित्क्षेतव्यमवशिष्यत इति तृतीया । तथा दुःखहानरूपमोक्षाख्यफलं तद्गोचरासंप्रज्ञातयोगेन साक्षात्कृतं न पुरुषार्थस्यापि ज्ञातव्यमवशिष्यत इति चतुर्थी । तदेतत्स्वस्य कृत्यसमाप्त्यनुभवरूपं प्रज्ञाचतुष्टयं प्रयत्नसाध्यतया कार्या विमुक्तिरित्युच्यते । विदेहकैवल्यकालिकावस्थानुभवरूपं चान्यत्रज्ञात्रयं यथा—समाप्तभोगापवर्गा मे बुद्धिर्भविष्यतीति प्रथमा, बुद्धिरूपेण परिणताः सत्त्वादयः स्वकारणे लयमेप्यन्तीति द्वितीया, लयं गच्छन्तीति वा द्वितीया; प्रलीनानां च तेषां बुद्धिरूपः परिणामो न भविष्यतीति तृतीया । एवं सप्तप्रकारानुभववतो ज्ञाननिष्ठा सद्योमुक्तिदेत्यवगन्तव्यम् । एवमुत्तमस्य केवलं ज्ञानमेव साधनं यथा सनकादीनां, मध्यमस्य ज्ञानकर्मणी समुच्चिते यथा हिरण्यगर्भादीनामिति विष्णुपुराणादौ स्पष्टम् ॥ २७ ॥

अतः परं विवेकख्यात्युपायप्रतिपादकं सूत्रजातं प्रवर्तते—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगाङ्गान्यष्टौ वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात्पापक्षये सति ज्ञानस्य पृथिव्यादितत्त्वविषयकस्य दीप्तिर्वृद्धिर्भवति, प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारं यावदित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथारुरुक्षोर्मन्दाधिकारिणो धारणादिरूपोऽभ्यासो यमनियमादिरूपक्रियायोगश्च यथाक्रममनुष्ठेयत्वेनोपदिशन् आदौ यमाद्यनुष्ठानमिति दर्शयन् विवेकख्यात्युपायं दर्शयन्नाह—योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । योगाङ्गान्यष्टौ वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात्पापक्षये सति ज्ञानस्य पृथिव्यादितत्त्वविषयकस्य दीप्तिः वृद्धिः प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारपर्यन्ता भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

कानि तानि योगाङ्गानीत्यपेक्षायामाह—

**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥**

सुगमम् ॥ २९ ॥

तत्र योगाङ्गान्याह—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टौ योगाङ्गानि । एतानि ज्ञानस्येव योगस्यापि साधनतया योगा-
ङ्गानि ॥ २९ ॥

एतानि च ज्ञानस्येव योगस्यापि साधनतया योगाङ्गानीति यमादीन्सूत्रैः
क्रमेण लक्षयति—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा

यमाः ॥ ३० ॥

तत्र तेषु यमादिषु मध्येऽहिंसादयः पञ्च यमा इत्यर्थः । तत्र अहिंसा प्राणि-
नामद्रोहः । सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थता । अस्तेयं परस्वानादानम् । ब्रह्मचर्यमष्ट-
विधमैश्वर्यनिवृत्तिः । “स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्य-
वसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च । एतन्मैश्वर्यमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः” इत्यष्टवि-
धमैश्वर्यस्य लक्षणमुक्तम् । अपरिग्रहश्च हिंसाद्यसंख्यदोषदर्शनतः पदार्थानामस्वी-
कार इति ॥ ३० ॥

तत्र यमं लक्षयति—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । तत्रा-
हिंसा प्राणिनामद्रोहः । शौचाचमनादावपरिहार्यहिंसायां तु न दोषः । सत्यं वाङ्मनस-
योर्यथार्थता । अस्तेयं परस्वानादानम् । ब्रह्मचर्यमष्टविधमैश्वर्यत्यागः । ‘स्मरणं कीर्तनं
केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव चे’त्यष्टविधम् ।
अपरिग्रहश्च हिंसाद्यसंख्यदोषदर्शनात्पदार्थानामस्वीकरणम् ॥ ३० ॥

यमेष्ववान्तरविशेषनिमित्तमुत्कर्षमाह—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा

महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

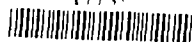
जातिः मनुष्यब्राह्मणादिः । देशस्तीर्थादिः । कालश्चतुर्दश्यादिः । समयो
युद्धादिः । एतैरनवच्छिन्नाः मनुष्यान् हनिष्ये, तीर्थे न हनिष्ये, चतुर्दश्यां न
हनिष्ये, युद्धातिरिक्ते न हनिष्ये इत्यादिविशेषैरनियमिता अत एव सार्वभौमाः
सर्वजात्यादिसाधारणास्तेऽहिंसादयो यमा महाव्रता इत्युच्यन्ते । अन्वर्था चेयं
संज्ञा ॥ ३१ ॥

यमानामुत्कर्षमाह—जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा
महाव्रतम् । जातिर्मनुष्यत्वादिः, देशस्तीर्थादिः, कालश्चतुर्दश्यादिः, समयो युद्धादिः,
एतैरनवच्छिन्नाः मनुष्यान् न हनिष्ये तीर्थे न हनिष्ये चतुर्दश्यां न हनिष्ये युद्धा-
तिरिक्ते न हनिष्ये इत्येवंविशेषैरनियमिता अतएव सार्वभौमाः सर्वविषयेषु विदिताः
सर्वजातिदेशकालादिसाधारणास्तेऽहिंसादयो महाव्रतमित्युच्यन्ते । अन्वर्था चेयं
संज्ञा ॥ ३१ ॥

६ पा० यो०

BU CI

17757



181.45 P27Y

यमान्व्याख्याय नियमान्व्याचष्टे—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौचं मृज्जलादिना बाह्यं, पञ्चगव्यादिभोजनेन चाभ्यन्तरम् । एतदुभयं शारीरम् । मानसं तु रागद्वेषादिमलक्षालनम् । संतोषः संनिहितोपकरणादधिकानुपादित्सा । तपश्चान्द्रायणादि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राध्ययनं प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं परमगुरो परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणम् । एतानि नियमा इत्यर्थः । अर्पणं चोक्तं कौर्मै—“नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा । एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः” इत्यादि ॥ ३२ ॥

नियमानाह—शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । शौचं मृज्जलादिना बाह्यं पञ्चगव्यादिभोजनेन च । आभ्यन्तरं रागद्वेषादिमलक्षालनम् । संतोषः संनिहितोपकरणादधिकस्यानुपादित्सा । तपश्चान्द्रायणादि, क्षुत्तृषे शीतोष्णे स्थानासनरूपद्वन्द्वसहनं, इज्जितेनापि स्वामिप्रायाप्रकाशनरूपकाष्टमौनमवचनरूपाकारमौनादि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राध्ययनम् । ईश्वरप्रणिधानं परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणं तत्पूजनादि च ॥ ३२ ॥

उक्तेषु यमनियमेषु विघ्ननिवृत्त्युपायमाह—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वक्ष्यमाणवितर्कैर्यमादिबाधने क्रियमाणे वक्ष्यमाणं प्रतिपक्षभावनं कार्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतेषु यमनियमेष्वभ्यस्यमानेषु प्राप्तविघ्नानां निवृत्त्युपायमाह—वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । वक्ष्यमाणैर्वितर्कैर्यमादीनां बाधने क्रियमाणे वक्ष्यमाणप्रतिपक्षभावनं कार्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

ये ते वितर्का यच्च तेषां प्रतिपक्षचिन्तनं तद्वयमाह—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोह- पूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानान्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

यमनियमविपरीता हिंसादयो दश वितर्कशब्देन तत्रे परिभाषिताः । ते च कृता वा कारिता वा साधुसाध्वित्यनुमोदिता वा स्युः । तथा लोभोत्थाः क्रोधोत्था मोहोत्था वा स्युः । तथा मृदवो मध्या अतिप्रमाणा वा स्युः । सर्व एव दुःखाज्ञानान्तफला इत्येवं वितर्कप्रतिपक्षरूपदुःखाज्ञानान्तफलत्वस्य चिन्तनं कुर्यादित्यर्थः । दुःखं चाज्ञानं च ते एवानन्ते फले येषामिति विग्रहः ॥ ३४ ॥

तदेवाह—वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोह-
पूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावन-
नम् । अहिंसादिविपरीता हिंसादयो दश वितर्का इति परिभाषितास्ते स्वयं कृता
अन्येन कारिताः साधुसाध्वित्यनुमोदिता इति त्रिविधास्ते पुनर्लोभक्रोधमोहपूर्वकत्वेन
त्रिविधाः लोभादयः पुनस्त्रिविधा मृदवो मध्या अतिप्रमाणा इति सर्वे एते दुःखं
विपर्ययज्ञानरूपमज्ञानं च संसारमूलकारणं फलं येषां ते इति प्रतिपक्षभावनया तेषां
परिहारः कार्य इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

यमनियमनिष्पत्तिसूचिकानां सिद्धीनां सूत्राण्यतः परं प्रवर्तन्ते—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसास्थैर्ये सति तत्संनिधिस्थानां मार्जारमूषकादीनामन्योन्यवैरत्यागो
भवति ॥ ३५ ॥

अथ यमादिनिष्पत्तिसूचिकाः सिद्धीराह—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ
वैरत्यागः । अहिंसास्थैर्ये सति तत्संनिधिस्थानां मार्जारमूषकादीनामन्योन्यं
वैरत्याग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्यस्थैर्ये सति तद्वचनमात्रेणान्येषां धर्मादिक्रियावत्त्वं तत्फलस्वर्गादि-
मत्त्वं च भवति ॥ ३६ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेयस्थैर्ये तस्मै स्वयमेव सर्वरत्नान्युपतिष्ठन्ते ॥ ३७ ॥

अस्तेयस्थैर्ये तद्वचनमात्रेण सर्वदिग्भ्यः सर्वरत्नान्युपतिष्ठन्ते ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्यस्थैर्ये सति वीर्यलाभः सामर्थ्यविशेषो भवति । येन स्वयं ज्ञानक्रि-
याशक्तिमान्भूत्वा परेषु पुरुषः क्षमत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । स्वयंज्ञानक्रियाशक्तिरूपसामर्थ्यवान् भूत्वा-
ऽन्येषामपि तदादधाति ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥ ३९ ॥

अपूर्वेण देहेन्द्रियादिसंघातेन ज्ञानहेतुः संयोगो जन्म, तस्य कथन्ता च किं-
प्रकारता तयोः संबोधः साक्षात्कारो जातिस्मरणं भवति ॥ ३९ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः । पूर्वापरजातिस्मरो भवती-
त्यर्थः ॥ ३९ ॥

यमसिद्धय उक्ताः । नियमसिद्धय उच्यन्ते—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शौचस्थैर्यात्स्वाङ्गे जुगुप्सा कुत्साऽशुचिदोषदर्शनरूपा भवति । अतएव परैर-
संसर्गोऽपि भवति ॥ ४० ॥

नियमसिद्धीराह—शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः । स्वाङ्गे जुगुप्सा
मृज्जलादिभिः शोधयतोऽपि कायशुद्ध्यदर्शनात् । अतएव परकायेष्वपि तादृशलवदर्शी
तैरसंसृष्टो भवति ॥ ४० ॥

बहिःशौचस्थैर्यसिद्धिमुक्त्वाऽन्तःशौचसिद्धिमाह—

**सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्य-
त्वानि च ॥ ४१ ॥**

चित्तमलक्षालनरूपाच्छौचात्सत्त्वशुद्धिः सत्वोद्रेकः । ततः सौमनस्यं स्वाभा-
विकी प्रीतिः । ततः प्रीतचित्तस्याविक्षेपादैकाग्र्यम् । तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्म-
साक्षात्कारयोग्यत्वमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

अन्तःशौचसिद्धिमाह—सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-
योग्यत्वानि च । भवन्तीति शेषः । चित्तमलक्षालनरूपाच्छौचात्सत्त्वशुद्धिः
सत्त्वगुणोद्रेकस्ततः सौमनस्यं सर्वत्र प्रीतिः, ततः प्रीतचित्तस्याविक्षेपादैकाग्र्यं, तत
इन्द्रियजयस्तत आत्मसाक्षात्कारयोग्यता ॥ ४१ ॥

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

संतोषस्य तृष्णाक्षयस्य स्थैर्यादनुत्तमस्य विषयसुखापेक्षया प्रकृष्टस्य सुखस्य
लाभो भवति ॥ ४२ ॥

संतोषादनुत्तमसुखलाभः । सुपुष्ताविवेक्यर्थः ॥ ४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपःस्थैर्यात्कायेन्द्रिययोः सिद्धिरशुद्धिक्षयद्वारा भवति । अशुद्धिः पापं तमो-
गुणाश्च । कायसिद्धिरणिमाद्या, इन्द्रियसिद्धिः दूराच्छ्रवणाद्या । एता विभूतिपादे
व्याख्यास्यन्ते ॥ ४३ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । तपःस्थैर्ये पापतमोगुणरूपाशुद्धि-
क्षयात्कायसिद्धिरणिमादिरूपा इन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणाद्या भवन्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायस्थैर्यादिष्टदेवतानां संप्रयोगो दर्शनं भवति ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरप्रणिधानस्थैर्यात्समाधिसिद्धिर्योगनिष्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । समाधिसिद्धिर्योगसिद्धिः इतरकारणेभ्योऽस्यान्तरङ्गत्वं सूचयति ॥ ४५ ॥

यमनियमाः सिद्धिभिः सहोक्ताः । आसनमुच्यते—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

आस्यतेऽनेन प्रकारेणेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । आसनगतविशेषाश्च हठयोगग्रन्थेभ्यो ज्ञेयाः । गुरुभिश्च वार्तिकेऽपि कियन्तः प्रदर्शिताः ॥ ४६ ॥

आसनमाह—स्थिरसुखमासनम् । यदेव स्थिरं सुखकरं च तदेवासनं कार्यमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

आसनस्थैर्यस्योपायमाह—

प्रयत्नशैथिल्याऽनन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्नशैथिल्यं बहुलायासनिवृत्तिः । अनन्तसमापत्तिश्च पृथिवीधारिणि स्थिरतरे शेषनागे चित्तस्य धारणं ताभ्यामासनं निष्पद्यते इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

तत्स्थैर्योपायमाह—प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । प्रयत्नशैथिल्यं बहुलायासनिवृत्तिः । अनन्ते पृथ्वीधारिणि शेषे समापत्तिश्चित्तस्य धारणा ताभ्यामासनं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

आसनादपि सिद्धिमाह—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

तत आसनस्थैर्याद्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिरनभिघातश्चित्तालम्बनं (?) भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आसनसिद्धेः फलमाह—ततो द्वन्द्वानभिघातः । तत आसनस्थैर्यात् । द्वन्द्वं शीतोष्णादि ॥ ४८ ॥

क्रमप्राप्तं प्राणायामं लक्षयति—

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः

प्राणायामः ॥ ४९ ॥

तस्मिन्नासने सति श्वासप्रश्वासयोः शास्त्रोक्तरीत्या स्वाभाविकगतिविच्छेदः प्राणायाम इति वक्ष्यमाणचतुर्विधप्राणायामस्य सामान्यलक्षणम् । तत्रासनस्याङ्गत्वलाभाय सत्यन्तम् । श्वासप्रश्वासौ नासापुटेन वायोः प्रवेशनिर्गमौ लोकप्रसिद्धौ तत्काले या स्वाभाविकी गतिस्तद्व्यतिषेध इत्यर्थः । अतो न श्वासप्रश्वासयोर्गत्यनुपपत्तिदोषः ॥ ४९ ॥

अथ प्राणायाममाह—तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । तस्मिन्नासने सति नासापुटेन स्वाभाविकौ यौ वायोः प्रवेशनिर्गमौ तत्काले या गतिस्तद्विच्छेद इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

प्राणायामस्यावान्तरभेदानाह—

**बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्यावृत्तिभिः
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥**

स च प्राणायामो बाह्यवृत्तिराभ्यन्तरवृत्तिस्तम्भवृत्तिरिति त्रिविधो रेचक-
पूरककुम्भकभेदात् । सोऽपि त्रिविधः प्राणायामो यदा देशकालसंख्याभिः
परिदृष्टो निर्णीतो नियमितो भवति तदाऽभ्यासवशात्क्रमेण दीर्घसूक्ष्मसंज्ञको
भवतीति वाक्यार्थः । एतावद्देशेन वा एतावत्कालेन वा एतावन्मात्रासंख्याभिर्वा
परिच्छिन्नो मया रेचकादिः कर्तव्य इत्येवमवधारित इति परिदृष्टान्तविशेष-
णार्थः । तत्र नासाग्रात्प्रादेशद्वादशाङ्गुलहस्तादिपरिमितो बाह्यदेशो रेचकस्य
विषयः शक्त्यनुसारात् । स च इपीकातूलक्रियया निश्चयः । कुम्भकस्य
च पूरकदेश एव विषयस्त्रयाणां सहानुष्ठाने पूरकानन्तरमेव कुम्भकस्पर्शनात् ।
स तु तूलक्रिययोक्तस्य स्पर्शस्य वानुपलब्ध्या निश्चय इति । क्षणानामियत्तया
अवच्छिन्नस्तु रेचकादिः कालदृष्ट उच्यते संख्यापरिदृष्टश्च । यथा—“निमेषोन्मेषणे
मात्राकालो लघ्वक्षरं तथा । प्राणायामस्य संज्ञार्थं स्मृतौ द्वादशमात्रिकः”
इति मार्कण्डेयाद्युक्तमात्राप्रमाणं ताभिर्द्वादशादिभिर्मात्रासंख्याभिः परिच्छिन्नो
रेचकादिरिति । दीर्घसूक्ष्म इति चान्वर्था संज्ञा दीर्घश्चासौ सूक्ष्मश्चेति व्युत्पत्तेः ।
देशाद्यन्यतमनियमेन हि ब्रह्महर्म्यस्यमानः क्रमेण कालवृद्ध्या दीर्घकालव्यापि-
त्वेन दीर्घ उच्यते, वायुसंचारस्यातिसूक्ष्मतया सूक्ष्म इति ॥ ५० ॥

तस्यावान्तरभेदानाह—बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । स प्राणायामो बाह्यवृत्तिराभ्यन्तरवृत्तिस्तम्भवृत्तिरिति
त्रिधा रेचकपूरककुम्भकभेदात् । प्राणिनां दक्षिणा नाडी पिङ्गला नाम सूर्यदै-
वत्या पितृयोनिः । वामा इडाख्या चन्द्रदैवत्या देवयोनिः । तयोर्मध्ये सुषुम्ना ब्रह्म-
दैवत्या, तत्र वामनासापुटेनान्तर्वायोऽस्यागो रेचकः । दक्षिणेन बाह्यपूरणं पूरकः ।
पूरितस्य निगृह्याविमोक्तः कुम्भकः । याज्ञवल्क्येन पूरककुम्भकरेचक इति क्रम
उक्तः । स त्रिविधो देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो निर्णीतो भवति । तदभ्यासवशा-
द्दीर्घसूक्ष्मसंज्ञको भवतीत्यर्थः । तत्र रेचकस्य देशो नासिकाद्वहिः प्रादेशः द्वादशा-
ङ्गुलहस्तादिपरिमितः शक्त्यनुसारात् । स चेपीकातूलादिक्रियया निश्चयः । पूरकस्य
चापादतलमस्तकमाभ्यन्तरो देशः स च पिपीलिकास्पर्शसदृशस्पर्शेन निश्चयः ।
कुम्भकस्य च पूरकदेश एव विषयः । पूरकानन्तरं तच्छ्रवणात् । स तूलक्रियया
उक्तस्पर्शस्य वानुपलब्ध्या निश्चयः । कालावधृतो यथा । एतावत्काले रेचक एताव-
त्क्षणव्यापी पूरक एतावत्कालव्यापी कुम्भक इत्यङ्गीकृतकालैरवधृतः । द्वादशरूपमा-

त्रासंख्यायाः एकैव संख्या त्रिष्वपि मार्कण्डेयोक्ता । मात्रा निमेषोन्मेषपरिच्छिन्नः कालः, खजानुमण्डलं त्रिः परामृश्य छोटिकावच्छिन्नकालो मात्रेत्यन्ये । निमेषक्रियावच्छिन्नकालस्य चतुर्थो भागः क्षण इति च । उक्तछोटिकावच्छिन्नः काल एव श्वासप्रश्वासक्रियावच्छिन्नः काल इति च । वसिष्ठेन पूरके षोडश मात्राः कुम्भके चतुःषष्टिमात्राः रेचके द्वात्रिंशन्मात्रा उक्ताः । योगियाज्ञवल्क्येन त्रिष्वपि द्वादशमात्राः कनीयान्, त्रिष्वपि चतुर्विंशतिमात्रो मध्यमः, त्रिष्वपि षट्त्रिंशन्मात्रा-कालपरिच्छिन्न उत्तम इत्युक्तम् । दीर्घसूक्ष्म इति देशाद्यन्यतमनियमेन प्रत्यहमभ्यस्यमानः क्रमेण कालवृद्ध्या दीर्घकालव्याप्तिलादीर्घः, वायुसंचारस्यातिसूक्ष्म-तया सूक्ष्मश्च भवतीति बोध्यम् । स च जपध्यानं विना क्रियमाणोऽगर्भ इत्युच्यते । तत्सहितश्च सर्गर्भ इति । तत्रेश्वरगीतायां सव्याहृतिका सप्रणवा गायत्री सशिरस्का त्रिर्जप्या इत्युक्तम् त्रिषु एकैकवारमित्यर्थः ॥ प्रणवो जप्य इत्यन्यत्र । तत्र पूरकादिक्रमेण नामिहृदयललाटेषु ब्रह्मविष्णुशिवानां ध्यानमुक्तं क्वचित् । क्वचित् परब्रह्मण एव ॥ ५० ॥

केवलकुम्भकरूपं प्राणायामस्य चतुर्थं विशेषमाह—

वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

वाह्याभ्यन्तरविषयकौ वाह्याभ्यन्तरवृत्तौ पूर्वसूत्रोक्तौ रेचकपूरकौ तयोराक्षेपी अतिक्रमी तावतिक्रम्य स्वयमेव केवलो जायत इति यावत् । स पूर्वसूत्रोक्त-रेचकपूरकादित्रयापेक्षया चतुर्थः प्राणायाम इत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठसंहिता-याम्—‘प्रस्वेदं जनयेद्यस्तु प्राणायामो हि सोऽधमः । मध्यमः कम्पनात्प्रोक्त उत्थाने चोत्तमो भवेत् ॥ पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसंभवः । निश्वासोच्छ्वासकौ देहे स्वाभाविकगुणानुभौ ॥ तथापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि । तयोर्नाशसमर्थः स्यात्कर्तुं केवलकुम्भकम् ॥ रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायु-धारणम् । प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥ सहितं केवलं वापि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् । यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥ केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते । न तस्य दुर्लभं किंचित्रिषु लोकेषु विद्यते’ इति ॥ ५१ ॥

अथ केवलकुम्भकरूपं चतुर्थं मेदमाह—वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः । वाह्याभ्यन्तरविषयौ उक्तौ रेचकपूरकौ तयोराक्षेपी तावतिक्रम्य जायमानः केवलकुम्भकरूपश्चतुर्थ इत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठसंहितायां—‘प्रस्वेदं जनयेद्यस्तु प्राणायामो हि सोऽधमः । मध्यमः कम्पकः प्रोक्त उत्थाने चोत्तमो भवेत् ॥ पूर्वंपूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तरसंभवः । निश्वासोच्छ्वासकौ देहे स्वाभाविकगुणानुभौ ॥ तथापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन तौ । तयोर्नाशे समर्थः स्यात् कर्तुं केवलकुम्भकम् ॥ रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् । प्राणायामोऽयमित्युक्तः स च केवलकुम्भकः । सहितं केवलं वापि कुम्भकं नित्यमभ्य-

सेत्' । तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मेलादीनां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति भाष्यम् ॥ ५१ ॥

योगद्वारभूतां प्राणायामस्य स्थितिसिद्धिमाह द्वाभ्याम्—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

ततः प्राणायामस्थैर्यात्प्रकाशस्य विवेकज्ञानस्यावारकं कर्मादृष्टरूपं क्षीयत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

तदेवाह—ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । विवेकज्ञानावारकं कर्म प्राणायामस्थैर्यात् क्षीयत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

प्राणायामस्थैर्यादेव मनसो वक्ष्यमाणधारणासु क्षमता भवति । प्राणाधीनतया मनोव्यापारस्य प्राणस्थैर्येणैव मनःस्थैर्यादित्यर्थः । अतएव वासिष्ठादौ मनःक्षोभेण प्राणक्षोभवत् प्राणक्षोभेणापि मनःक्षोभ उक्तः ॥ ५३ ॥

फलान्तरमाह—धारणासु च योग्यता मनसः । प्राणायामस्थैर्यादेव मनसो वक्ष्यमाणसु धारणासु क्षमता भवति । प्राणाधीनत्वान्मनोव्यापारस्य प्राणस्थैर्येणैव मनःस्थैर्यादित्यर्थः । अतएव वासिष्ठादौ मनःप्राणयोः परस्परक्षोभकतोक्ता ॥ ५३ ॥

क्रमागतं प्रत्याहारं लक्षयति—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियाणां स्वस्वविषयासंनिकर्षकाले ध्यानादौ या चित्ताकारता भवति सा प्रत्याहार इति फलद्वारकं लक्षणम् । अजितेन्द्रियाणां तु ध्यानादिकाले चित्तमेवेन्द्रियानुकारि भवति । तदानीमपि रूपादिष्विन्द्रियैश्चित्ताकर्षणादिति ॥ ५४ ॥

प्रत्याहारमाह—स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । इन्द्रियाणां स्वस्वविषयासंनिकर्षकाले ध्यानादौ या चित्ताकाराकारतेव स प्रत्याहार इति फलद्वारकं लक्षणम् । प्राणायामादिभिः स्थिरं चित्तं शब्दादिभिर्विषयैर्न संप्रयुज्यते । तदसंप्रयोगाच्चक्षुरादीन्यपि न संप्रयुज्यन्त इत्ययमिन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकारः । ननु यत्तत्त्वे चित्तमभिनिवेश्यते तत्रेन्द्रियाणामनुकारस्तस्य तदविषयत्वादेतदर्थमिवेत्युक्तम् । एवं च सचित्तेन्द्रियाणां निरोधः प्रत्याहार इति फलितम् । अजितेन्द्रियाणां तु ध्यानादिकाले चित्तमेवेन्द्रियानुकारि तदानीमपि रूपादिष्विन्द्रियैश्चित्ताकर्षणादिति दिक् ॥ ५४ ॥

योगे व्यापारमृतामेव प्रवृत्तामस्मि विदिमहे —

ततः परमा वदयतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

ततः प्रवृत्तामस्मिन्द्रियाणां परमो ज्ञो भवति । विद्यामृतमस्मिन् कृत्यमात्र
एव परमाय इति ॥ ५५ ॥

इति श्रीभावागोष्ठीय-नागोजीभट्टायनी पानकलमुद्रमुनी
साधनपादो द्वितीयः ॥ २ ॥

यस्यैति दर्शनम्—ततः परमा वदयतेन्द्रियाणाम् । ततः प्रवृत्तामस्मि
न्द्रियाणां परमज्यो भवति । विद्यामृतमस्मिन् कृत्यमात्रमस्मिन् भवति
त्यर्थः । विद्यामिमुं भवितव्यमस्मिन् न भवति भवति । यथा कृत्यमस्मिन्
रेषि पुनरिन्द्रियान्तरजगत् प्रवृत्तामस्मिन् न भवति विद्यामृतमस्मिन्, तदस्मिन्
मार्गो ज्ञानमिति शेषम् ॥ ५५ ॥

इति श्रीभावागोष्ठीय-नागोजीभट्टायनी पानकलमुद्रमुनी

द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

तृतीयो विभूतिपादः ।

योगस्य बहिरङ्गान्येव पञ्च पूर्वपादे व्याख्यातानि । अन्तरङ्गत्रयं तु सिद्धिभिः
सहातिबहुलतया पृथक्पादेन व्याख्यायते—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

यत्र हृत्पुण्डरीकादिरूपे देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र देशे चित्तस्य बन्ध एकाग्र्यं
धारणेत्यर्थः ॥ १ ॥

सोऽयं योगो यमनियमाभ्यां प्राप्तबीजो भवति । आसनप्राणायामाभ्यामङ्कुरितः
प्रत्याहारेण कुसुमित इत्येतत्पञ्चकं बहिरङ्गम् । धारणादित्रयेण च फलतीति तदन्तर-
ङ्गसाधनम् । तत्र धारणामाह—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । यत्र हृत्पुण्डरीका-
दिदेशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र देशे चित्तस्य बन्ध एकाग्रत्वं धारणेत्यर्थः । ‘हृत्पुण्डरीके
नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके । एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्’ इत्युक्तेः ।
एवं नासाग्रजिह्वाग्रताल्लादयोऽपि । ननु मूर्त्यादिध्यानदेशो घटतां, सत्पुरुषान्य-
तायोगे शुद्धब्रह्मयोगे वा न देशः संभवति, ध्येयस्यापरिच्छिन्नत्वादिति चेन्न ।
स्वस्वोपाधिदेशस्यैव तद्देशत्वादित्याह । मूर्त्यादिध्यानेन चित्तस्यैकाग्र्ये एव तद्ध्या-
नमिति तदुपायतयैषा धारणोक्तेत्यन्ये । तत्र धारणा द्वादशप्राणायामकालपरिच्छि-
न्नेति ईश्वरगीतायाम् ॥ १ ॥

क्रमागतं ध्यानं लक्षयति—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

तत्र देशे चतुर्भुजादिध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो ध्यानमित्यर्थः ॥ २ ॥

ध्यानमाह—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । तत्र देशे चतुर्भुजादिध्येया-
कारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तराव्यवहितो ध्यानमित्यर्थः । बुद्धिवृत्तौ वा तद्विवेक-
तश्चैतन्यचिन्तनम् । कारणोपाधावीश्वरचिन्तनमिति । द्वादशधारणाकालं च
ध्यानम् ॥ २ ॥

समाधिं लक्षयति—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

मात्रपदस्य विवरणं स्वरूपशून्यमिवेति । स्वरूपपदं च तदादीनामन्येषामप्यु-
पलक्षणम् । इवशब्देन चाग्रहणमात्रं शून्यसाधर्म्यं विवक्षितम् । स्वरूपतो
ध्यानस्य सत्त्वात् । तथा च तदेव ध्यानं तदा ध्येयार्थमात्रग्राहि भवति न तु
ध्यातृध्यानध्येयादिविभागं गृह्णाति तदा समाधिरुच्यत इत्यर्थः । तद्विभागग्रहण-
काले च ध्यानमिति ध्यानसमाध्योर्भेदः ॥ ३ ॥

समाधिमाह—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।
मात्रपदविवरणं च स्वरूपशून्यमिवेति । स्वरूपेति ध्यात्रादीनामप्युपलक्षणम्, इव-
शब्देनाग्रहणरूपं शून्यसाधर्म्यं विवक्षितम् । स्वरूपतो ध्यानसत्त्वात् । तथाच
तदेव ध्यानं यदा ध्येयावेशवशात् ध्यानध्यातृदृष्टिशून्यं ध्येयमात्राकारं भवति
ध्येयमात्रं गृह्णाति तदा समाधिरित्यर्थः । तद्ग्रहकाले तु ध्यानमिति ध्यानसमाध्यो-
र्भेदः । अतएवात्यन्ताभ्यर्हितादिविषयेन्द्रियसंनिकर्षे ध्यानभङ्गो भवति न समा-
धेरिति स्मर्यते । अयं समाधिर्वृत्त्यन्तरनिरोधद्वारैव साक्षात्कारहेतुरिति बोध्यम् ॥३॥

धारणादित्रयस्य परिभाषासूत्रम्—

तत्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

तद्धारणादित्रयम्, एकत्रैकविषये क्रियमाणं संयम इत्युच्यत इत्यर्थः ।
संयमसिद्धयोऽग्रे वक्ष्यन्ते ॥ ४ ॥

एतत्रयस्य तात्त्रिकीं संज्ञामाह—तत्रयमेकत्र संयमः । एकत्र विषये क्रिय-
माणमेतत्रयं संयम इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

इदानीं संयमस्य योगाङ्गताप्रयोजकं द्वारमाह—

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

तस्य संयमस्य जयः स्थैर्यं तस्मात्प्रज्ञायाः आलोकः दीप्तिः वृद्धिः क्रमेण
भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

तस्य योगाङ्गतायां द्वारमाह—तज्जयात्प्रज्ञालोकः । तस्य संयमस्य जया-
त्स्थैर्यात् समाधिप्रज्ञाया आलोकः दीप्तिः । दीप्तिः प्रत्ययान्तरानभिभूताया निर्मले
प्रवाहेऽवस्थानं भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

संयमस्यानुष्ठाने विशेषमाह—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य संयमस्य स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकाजयानन्तरं सूक्ष्मादिपूत्तरोत्तरभूमिकासु
नियोजनं योगिना कार्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

संयमानुष्ठाने विशेषमाह—तस्य भूमिषु विनियोगः । स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमि-
काजयानन्तरं सूक्ष्मासूत्तरोत्तरभूमिकासु नियोजनं योगिना कार्यमित्यर्थः । यथा
सभूषणसायुधचतुर्भुजमूर्तिसमाधौ सिद्धे आयुधपरित्यागेन तस्यापि सिद्धौ भूषणर-
हिते ततः सोऽहमिति ततोऽहमिति ॥ ६ ॥

योगाङ्गानि व्याख्यातानि तेष्वावश्यकत्वानावश्यकत्वविवेकार्थमन्तरङ्गबहिर-
ङ्गविभागमाह द्वाभ्याम्—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पूर्वेभ्यः पूर्वपादोक्तपञ्चाङ्गेभ्यः सकाशादेतत्पादोक्तं धारणात्रयं योगस्य संप्र-
ज्ञातस्यान्तरङ्गं भवति । उत्तरसूत्रादत्र संप्रज्ञाताख्यविशेषलाभः ॥ ७ ॥

एवं त्रयाणामत्यावश्यकत्वं प्रतिपादयति—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः । पूर्वेभ्यो यमादिपञ्चभ्यः संप्रज्ञातसमाधेरिति शेषः ॥ ७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्वाजस्य ॥ ८ ॥

निर्वाजयोगस्यासंप्रज्ञातस्य तदपि त्रयं बहिरङ्गमेव भवति । विवेकख्यातिपर-
वैराग्यद्वारा परम्परयैव तद्धेतुत्वेन जन्मान्तरीयेणापि तत्रयेणासंप्रज्ञातसंभवा-
दित्यर्थः ॥ ८ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्वाजस्य । तदपि त्रयं निर्वाजस्यासंप्रज्ञातस्य बहिरङ्गमे-
वेत्यर्थः । विवेकख्यातिपरवैराग्यद्वारा परम्परयैव तद्धेतुत्वेन जन्मान्तरीयेणापि
त्रयेणासंप्रज्ञातसंभवादित्यर्थ इति कश्चित् । साध्यसमानविषयत्वेन हि संप्रज्ञातं
प्रत्यन्तरङ्गत्वम् । अस्य निर्वाजतया तत्त्वमप्यत्र नास्ति । तेषु चिरनिरुद्धेषु परवै-
राग्यानन्तरमुत्पादाच्च । तदुक्तं भाष्ये 'तदभावे भावात्' इत्यन्ये ॥ ८ ॥

ज्ञानोपायप्रसंगेन योगाङ्गानि विस्तरतः प्रोक्तानि । इदानीमङ्गभूतस्य समा-
धेरङ्गिनोश्च योगयोः स्वरूपभेदावधारणाय तदवस्थासु विशेषा वक्तव्याः ।
तावतैव तयोरङ्गङ्गिनोः प्रयोजनमपि प्रतिपादितं भविष्यति । तत्रादावङ्गसमा-
ध्यवस्थातोऽङ्गियोगयोरवस्थायां विशेषमाह—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरो- धक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थानं निरोधश्च योगद्वयसाधारणमेवात्र ग्राह्यम् । केवलस्यासंप्रज्ञातस्य
ग्रहणे संप्रज्ञातकालीनपरिणामाकथनाभ्यूनतापत्तेरिति । अभिभवप्रादुर्भावौ च
हासवृद्धौ । तथाच व्युत्थानसंस्कारस्य हासो वृत्तिनिरोधसंस्कारस्य वृद्धिर्निरो-
धकालीनः परिणामः । स च निरोधक्षणेऽप्येकस्मिन्नेव स्थिरे चित्ते इत्यतश्चित्त-
स्थैर्यप्रतिपादनाय चित्तपदम् । निरोधस्य प्रतिक्षणमेतादृशपरिणामलाभाय
निरोधक्षणेऽत्युक्तम् ॥ ९ ॥

अथासंप्रज्ञातस्य किं कार्यं तत्र च तस्य कीदृशः परिणामस्तत्राह—व्युत्था-
ननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरो-
धपरिणामः । संप्रज्ञातोऽप्यत्र व्युत्थानम् । तत्र व्युत्थानकालिकसंस्काररूपेण
तत्र चित्तस्य परिणामः । सर्वक्षणे च निरोधलक्षणस्य तत्त्वरूपस्यैव चित्तस्य
तत्रान्वय इत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु वृत्तीनामेव स्मृतिहेतुतया संस्कारजनकत्वं सिद्धं निरोधस्य तु संस्कारज-
नकत्वे किं प्रमाणं तत्राह—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

तस्य निरोधस्य प्रशान्तवाहिता निश्चलप्रवाहः स्वसंस्कारादेव भवतीत्यर्थः ।

निरोधसंस्कारवृद्धेरेवोत्तरोत्तरासंप्रज्ञातव्यक्तीनामधिकाधिककालं प्रशान्तवाहित्वं युक्तमिति भावः ॥ १० ॥

ननु वृत्तीनां स्मृत्यन्यथानुपपत्त्या संस्कारजनकत्वेऽपि निरोधस्य संस्कारजनकत्वे न मानमत आह—तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् । तस्य निरोधस्य प्रशान्तवाहिता व्युत्थानसंस्काररहितविरकालवाहिता स्वसंस्कारपाटवादेव भवतीत्यर्थः । संस्कारवृद्धैवोत्तरोत्तरासंप्रज्ञातव्यक्तीनामधिकाधिककालतेति भावः ॥ १० ॥

अङ्गसमाधेरवस्थायां विशेषमाह—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सर्वार्थता विक्षिप्तता तस्याः प्रतिक्षणं क्षयन्तिरोभावो भवति । एकाग्रतायाश्चाविर्भावो भवति । अयं समाधिकालीनचित्तपरिणाम इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अङ्गभूतसमाधेरवस्थायां विशेषमाह—सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः । सर्वार्थता विक्षिप्तता तस्याः प्रतिक्षणं क्षयः तिरोभावः एकाग्रतायाश्चाविर्भावो भवति । अयं समाधिकालीनचित्तपरिणाम इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अङ्गसमाधेरेवोत्तरपरिणामानन्तरकालीनं परिणामान्तरमाह—

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्त- स्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

ततः सर्वार्थताया निःशेषतः क्षये सति शान्तोदितौ विनष्टोत्पन्नौ तुल्यप्रत्ययावेकाकारप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालीनः परिणामो भवति । सजातीयैकैकः प्रत्ययो नश्यत्यन्योन्यश्चोत्पद्यत इत्यर्थः । पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तेरेव परिणामत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

तदुत्तरकालं तस्यैव परिणामान्तरमाह—ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः । ततः सर्वार्थताया निःशेषतः क्षये सति शान्तोदितौ विनष्टोत्पन्नौ तुल्यप्रत्ययौ एकाकारप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालिकः परिणाम इत्यर्थः । सजातीय एको नश्यति अपर उत्पद्यते इत्येवंरूपतेत्यर्थः । पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिरेव परिणाम इति भावः ॥ १२ ॥

इदानीं परिणामत्रयसंयमादित्यागामिसूत्रोपोद्धातसंगत्या सर्ववस्तुषु वैराग्याग्निप्रज्वलनाय चित्तवदेवाखिलप्रपञ्चेऽप्यतिदेशेनैव परिणामान्व्याचष्टे—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

एतेन चित्तस्य परिणामेन भूतेष्विन्द्रियेषु च धर्मैर्लक्षणैरवस्थाभिश्च परिणामा
७ पा० यो०

व्याख्याताः । एतदन्यतमैः परिणामैः शून्यं क्षणमपि न किञ्चिज्जडवस्त्ववतिष्ठत इत्यर्थः । परिणामश्चान्यथात्वम् । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो यथा मृद्धर्मिणः पिण्डरूपधर्मापाये घटधर्मोत्पत्तिः । धर्माणां च लक्षणपरिणामो यथा पिण्डस्य वर्तमानलक्षणापायेऽतीतलक्षणोत्पत्तिः, घटस्य चानागतलक्षणापाये वर्तमानलक्षणोत्पत्तिः । अनागतवर्तमानातीतावस्थासु च तान्त्रिकी लक्षणपरिभाषा । लक्षणानां चावस्थापरिणामो यथा—वर्तमानलक्षण एव घटः प्रतिक्षणं नवपुराणाद्यवस्थाभिरन्यत्वमेति । यद्यपि सर्व एव परिणामः परमार्थतो धर्मिण एव धर्मादीनां तत्त्वतो धर्मिस्वरूपत्वात्तथापि व्यावहारिकावान्तररूपैरीदृशोऽपि विभाग उच्यत इति ॥ १३ ॥

सर्वत्र वैराग्यातिशयाय चित्तवदेव प्रतिक्षणपरिणामित्वं वस्तुमात्रेऽतिदिशति—
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः । अनागतवर्तमानातीतावस्थासु लक्षणेति तान्त्रिकी, संज्ञा । तत्र चित्तस्य व्युत्थानतिरोधानाभ्यां धर्माभ्यां परिणामः तद्धर्माभिभवापरधर्मप्रादुर्भावरूपः, धर्मयोश्चानागतं लक्षणं त्यक्त्वा वर्तमानलक्षणः यत्र स्वरूपामिव्यक्तिः, ततो वर्तमानलक्षणं त्यक्त्वातीतलक्षणः स्वरूपामिभवरूपः । एकैकावस्थायामपि इतरे द्वे स्त एव सत्कार्यवादाभ्युपगमात् । धर्मत्वं त्रिष्वप्यनुस्यूतमेव । एवं पुनःपुनर्निरोधजातीयः पुनःपुनर्व्युत्थानजातीयः अतीतव्यक्तेः पुनरनुद्भवात् । धर्माणां वर्तमानलक्षणानां बलवत्त्वाबलवत्त्वे अवस्था, तस्याः प्रतिक्षणं तारतम्यं परिणामः । यथा निरोधसंस्कारेषु बलवत्सु दुर्बला व्युत्थानसंस्काराः । क्षणमपि परिणामशून्यं न चित्तं गुणानां स्वभावतः प्रवृत्तिशीलत्वात् । एतयैव रीत्या पदार्थमात्रे परिणामा वेदितव्या इत्यतिदेशः । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो यथा—मृदो धर्मिणः पिण्डरूपधर्मापाये घटरूपधर्माभिव्यक्तिः । तेषां च लक्षणैः परिणामा यथा—घटस्यानागतलक्षणापाये वर्तमानलक्षणाविर्भावः । एषैवोत्पत्तिः । वर्तमानलक्षणापायेऽतीतलक्षणाविर्भावः एष एव नाशः । लक्षणानां चावस्थाभिः परिणामो यथा—वर्तमानलक्षण एव घटः प्रतिक्षणं नवपुराणपरिणामं वृद्धिहासाद्यवस्थाभिरन्यथात्वं याति । एवमिन्द्रियाणामपि तत्तद्ब्रह्माद्यालोचनं धर्मपरिणामः । तेषां च वर्तमानत्वादिः लक्षणपरिणामः । वर्तमानलक्षणस्य रत्नाद्यालोचनस्य स्फुटत्वास्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः । इदं च धर्मिणो धर्मलक्षणावस्थानां च काल्पनिकं भेदमाश्रित्योक्तम् । परमार्थतस्तु सर्व एव परिणामो धर्मिण एव धर्मलक्षणावस्थानां धर्मिमात्रस्वरूपत्वात्, धर्मादिपरिणामद्वारा च धर्मिपरिणामस्यैव प्रपञ्चनात् । तत्र धर्मिणस्त्रिविधेऽपि परिणामे संस्थानान्यथात्वमेव न द्रव्यान्यथात्वं स्वर्णकटकदिवत् धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदोऽत्यन्ताभेदश्च नेति तात्पर्यम् । सचायं धर्मा न पुरुषवत्कूटस्थोऽर्थक्रियाकारिणो रूपस्य नाशात् । नाप्यत्यन्तं तुच्छः कदाचिदर्थक्रियादर्शनात् । एवं च परिणामित्वेन पुरुषाद्भिद्यते । मृत्पिण्डाद्यवस्थासु चातीतानागतानां घटादीनां सत्त्वमेव, सर्वदा धर्मत्वानपायस्य भाष्योक्तेः । स्वकारणे लयेन सौक्ष्म्याद-

तीतानागतलक्षणयोरनुपलब्धिः । असत् उत्पत्त्यसंभवेन सतश्च सर्वथानाशासंभवे-
नैष एव मार्गो ज्यायान् । अनुभवादपि धर्मधर्मिणोरभेदो धर्मोणां च परस्परं
व्यावृत्तिः । नह्यत्यन्ताभेदे धर्मधर्मिभाव एव घटव्यक्ताविव । नाप्यत्यन्तभेदः अश्व-
पुरुषयोरिव । वर्तमानादिलक्षणानां चाविर्भावतिरोभारूपविरुद्धधर्मसंसर्गादसंकरः
परस्परम् । आविर्भावतिरोभावस्तु तत्स्वरूप एव नातिरिक्त इति नानवस्था । अव-
स्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति दिक् ॥ १३ ॥

ननु धर्मातिरिक्तो धर्मी अप्रामाणिको यस्य धर्मादिः परिणामः स्यादिति
बौद्धाशङ्कायां धर्मेभ्यो विवेकतो धर्मिणं साधयति—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

अतीतवर्तमानानागतधर्मेष्वनुपाती वर्तमानरूपेणानुगतो यः स धर्मीत्यर्थः ।
वर्तमानत्वावर्तमानत्ववैधर्म्येण धर्मी धर्मेभ्योऽन्य इति भावः । सर्वेऽपि हि
धर्मा धर्मिणो वर्तमानावस्थायामेवाव्यक्ता अपि भवन्ति ॥ १४ ॥

ननु धर्मातिरिक्तो धर्मी न प्रामाणिकः यस्य धर्मादिः परिणामः स्यादिति बौद्ध-
निरासाय धर्मातिरिक्तं धर्मिणं साधयति—शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती
धर्मी । अतीतवर्तमानानागतेषु धर्मेष्वनुपाती वर्तमानरूपेणानुगतो यः स धर्मी-
त्यर्थः । धर्माश्च धर्मिणो द्रव्यस्य मृदादेस्तत्कार्ययोग्यतावच्छिन्ना चूर्णपिण्डघटा-
दिजननशक्तिरेव । तेषां तत्राव्यक्तत्वेन भाव इति यावत् । उदकाहरणादीनामा-
कस्मिकलवारणाय योग्यतावच्छिन्नेति । ततश्च तान्यपि स्वकारणादेव प्राप्तानीति
तद्वांश्च धर्मा, कार्यभेददर्शनं च तत्सद्भावे तद्भेदे च प्रमाणम् । वर्तमानश्च पिण्डा-
दिधर्मः शान्तोदितमृच्चूर्णमृद्धटाभ्यां मित्रः, अन्यथा तयोरपि स्वकार्यकारित्व-
प्रसङ्गः । अव्यक्तावस्थायां कारणरूपधर्मिमात्ररूपत्वाच्च भेदप्रतीतिः । अनागता-
वस्थायां तु वर्तमानावस्थैव प्रमाणं, असत् उत्पादाभावात् । तत्रानागतावस्थाऽन-
न्तरा वर्तमानावस्था, ततोऽनन्तरातीतावस्था, ततोऽनन्तरावस्था तु न, अनुपलब्धेः ।
उपादानकारणेषु सर्वकार्याणां सत्त्वेऽपि देशकालाकारनिमित्तकत्वाच्च सर्वदा सर्व-
माविर्भवति । देशः केशरस्य काश्मीरमेव । कालः शालीनां वर्षैव । आकारो
मनुष्यस्य मानुष्येवेति । अन्यथा जलभूमिरूपोपादानकारणस्य सर्वशक्तिरूपत्वात्सर्वं
सर्वदा सर्वस्मिन्सर्वत आविर्भवेत् । एवमपुण्यवान् सुखं न भुङ्क्ते तस्मिन् पुण्यनि-
मित्ताभावात् । यः सर्वेष्वनुगतः सामान्यविशेषात्मा स धर्मी, सामान्यं धर्मिरूपं
विशेषा धर्मास्तदुभयात्मकः । यदि च धर्मी न स्यात् अन्यविज्ञानकृतस्यान्यो
भोक्ता न स्यात्सरणोच्छेदश्च प्रत्यभिज्ञा च न स्यात्, धर्माणामनवरतपरिणामि-
त्वेन स्थैर्याभावात् । एष काल्पनिको धर्मधर्मिभावः । परमार्थतस्तु अलिङ्गप्रधानमेव
सर्वत्र धर्माति उत्तरसूत्रे भाष्ये ध्वनितम् ॥ १४ ॥

नन्वस्तु धर्मेभ्योऽन्यो धर्मी तथाप्येकस्य धर्मिण एक एव परिणामोऽस्तु

एकस्यानेकपरिणामाङ्गीकारे सहकारिकल्पनागौरवेण कुर्वद्रूपतयैव वस्तुसिद्धेरिति बौद्धस्याशङ्कान्तरमपाकरोत्येकस्य धर्मिणो वक्ष्यमाणपरिणामत्रयोपपत्तये—

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

एकस्य वस्तुनः परिणामनानात्वे क्रमभेदो हेतुर्लिङ्गमित्यर्थः । क्रमभेदश्च यथा—मृद्धमीं प्रथमं चूर्णभावं हित्वा पिण्डभावं प्राप्त इत्येकः क्रमः । ततश्च पिण्डभावं हित्वा कपालभावं प्राप्त इत्यपरः क्रमः । इत्येवमादयो मृदः परिणामक्रमभेदाः, सर्वत्र च मृन्मृदित्यनुगतप्रत्ययान्मृद एकत्वमिति ॥ १५ ॥

नन्वस्तु धर्मेभ्योऽन्यो धर्मी तथाप्येकस्य धर्मिण एक एव परिणामोऽस्तु एकस्यानेकपरिणामाङ्गीकारे सहकारिकल्पनागौरवादित्यत आह—**क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः** । एकस्य वस्तुनः परिणामनानात्वे क्रमभेदो हेतुर्लिङ्गमित्यर्थः । क्रमभेदश्च यथा मृद्धमीं प्रथमं चूर्णभावं हित्वा पिण्डभावं प्राप्त इत्येकः क्रमः ततः पिण्डभावं हित्वा घटभावं प्राप्त इत्यपरः ततस्तं हित्वा कपालभावं प्राप्तः ततस्तं हित्वा कणभावं प्राप्त इति मृदः परिणामक्रमभेदाः । एकत्र परस्यान्यत्र पूर्वत्वात् । सर्वत्र च मृदित्यनुगतप्रत्ययान्मृद एकत्वं सहकारिभेदाच्च तेषां नाकस्मिकत्वमिति भावः । एवमनागतवर्तमानातीतत्वलक्षणानामपि क्रमोऽनुभूयते । एवमवस्थापरिणामक्रमोऽनुभूयते वात्ययौवनवार्धकानाम् । एवं चित्तस्य द्वये धर्माः प्रत्यक्षा अनुमानशब्दगम्याश्च । तत्र प्राणादयः पञ्च प्रत्यक्षाः । अप्रत्यक्षास्तु सप्त यथा निरोधसंस्काराः कालवृद्धानुमेयाः आगमज्ञेयाश्च । पुण्यापुण्ये आगमज्ञेये सुखदुःखाभ्यामनुमानेन । संस्काराः स्मृत्यानुमीयन्ते । एवं त्रिगुणत्वाच्चित्तस्य गुणानां चलवृत्तित्वाच्च प्रतिक्षणं परिणामोऽनुमीयते । जीवनं प्राणधारणं प्रयत्नभेदः श्वासप्रश्वासाभ्यामनुमीयते । तत्तदिन्द्रियैः संयोगात्तस्य चेष्टानुमीयते । चेष्टा च तत्र वृत्तिद्वारिका । शक्तिः कार्याणां सूक्ष्मावस्था स्थूलकार्यानुभवादनुमीयते इति दिक् ॥ १५ ॥

इतः परं पादसमाप्तिपर्यन्तं संयमसिद्धिरूपा विभूतय उच्यन्ते—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

अस्य धर्मिणोऽयं धर्मपरिणामस्तस्य चायं लक्षणपरिणामो लक्षणस्य चायं नवपुराणाद्यवस्थापरिणाम इत्येवमनुक्षणं यत्र कुत्रचिदर्थे संयमात्साक्षात्कारे सति तदितरार्थानामपि धर्मादिपरिणामेष्वतीतानागतज्ञानं संकल्पमात्रेण प्रणिधानलेशादेव भवतीत्यर्थः । यद्यपि संयमस्य साक्षात्कारपर्यन्ततात्र नोक्ता तथापि संस्कारसाक्षात्करणादित्यागामिसूत्रात्सूत्रान्तरेण्यपि सा लभ्यते । अन्यविषयकसंयमादप्यन्यविषयकसाक्षात्कारश्च शास्त्रप्रामाण्यादवसेयः, यागात्स्वर्ग इवेति । संयमेन स्वविषयकसाक्षात्कारस्तु नात्र संयमसिद्धिषु मध्ये पठ्यते, क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेरित्यादिप्रथमपादे संप्रज्ञातफलत्वेनैव तस्योक्तत्वात् ॥ १६ ॥

अस्य संयमस्य विषयांस्तद्वशीकारसूचिका विभूतीश्चाह—परिणामत्रयसंय-
मादतीतानागतज्ञानम् । उक्तस्य धर्मलक्षणावस्थापरिणामत्रयस्य कुत्रचिदर्थे
संयमात् ध्यानधारणासमाधिभिः साक्षात्कारात्तदितरार्थानामपि धर्मादिपरिणामेष्वपि
अतीतानागतज्ञानं संकल्पमात्रेण प्रणिधानलेशादेव भवतीत्यर्थः । यद्यप्यत्र संय-
मस्य साक्षात्कारपर्यन्तता नोक्ता तथापि संस्कारसाक्षात्करणादित्यागामिसूत्रात्सू-
त्रान्तरेष्वपि सा लभ्यते । अन्यविषयकसंयमादन्यविषयकसाक्षात्कारश्च शास्त्र-
प्रामाण्याद्यागात्स्वर्ग इव । संयमेन स्वविषयविषयकसाक्षात्कारस्तु न त-
त्सिद्ध्यन्तःपाती क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवेत्यादिना प्रथमपादे संप्रज्ञातफलत्वेनै-
वोक्तत्वात् ॥ १६ ॥

संयमान्तरस्य सिद्ध्यन्तरमाह—

**शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रवि-
भागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥**

गौरित्यादिः शब्दो गौरित्यादिरर्थो गौरित्यादिः प्रत्ययः । तेषामन्योन्यमेका-
कारत्वाध्यासात्संकरो विवेकाग्रहणं भवति । वस्तुतस्तु वैधर्म्यात्तेषां भेदोऽस्ति ।
अतस्तेषां प्रविभागे भेदे संयमात्साक्षात्कृते सति सर्वभूतानां रुतानि शब्दाः
स्वरूपतोऽर्थतश्च ज्ञायन्ते । अयं काकादिः शब्देनेममर्थं कथयतीत्येवमित्यर्थः ।
अस्मदादीनां च शब्दादित्रयभेदसाक्षात्कारे सत्यपि तस्य साक्षात्कारस्य संय-
मजन्यत्वाभावात् सर्वभूतरुतज्ञानं भवति ॥ १७ ॥

संयमान्तरविषयसिद्धीराह—शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकर-
स्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् । ननु शब्दः श्रोत्रग्राह्य आकाश-
निष्ठोऽर्थस्तु घटादिश्चक्षुर्ग्राह्यो भूस्थो ज्ञानं चान्तःकरणवृत्तिरूपं तन्निष्ठमिति भेदस्या-
त्यन्तिकत्वात् कथमितरेतराध्यास इति चेन्न, त्रयाणामप्यन्तःकरणपरिणामरूपत्वेन
तत्संभवात् । तथाहि—कण्ठाद्यष्टस्थानकवाग्निन्द्रियाभिहतोदानवायोः परिणामवि-
शेषध्वनिरूपवर्णा हि श्रोत्रविषयाः, तेषां न वाचकत्वम् । ते किं प्रत्येकं वाचका
उत मिलिताः । नाद्यः । एकस्मादर्थप्रतीत्यनुत्पत्तेः । उत्पत्तौ द्वितीयादिवर्णानां वैय-
र्थ्यप्रसङ्गः । नान्त्यः । यौगपद्यासंभवात् । नच पूर्वपूर्ववर्णानुभवाहितसंस्कारसाचि-
व्येन पूर्वपूर्वस्मरणविशिष्टोत्तरोत्तरप्रत्यक्षात्मकानुपूर्वीविशिष्टपदज्ञानम् । आनुपूर्व्याः
क्षणघटितत्वेनातीन्द्रियघटिततया ज्ञानाविषयत्वात् । तस्मात्प्रत्येकवर्णरूपनादान्
गृहीत्वा पश्चाज्जायमानैकत्वविषयबुद्धिनिर्ग्राह्यं बौद्धं गौरित्येतदेकं पदं वाचकं
वाच्यम् । तदुक्तं भाष्ये—‘नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यम्’ इति । यद्वा नादानामनुसं-
हारो ग्रहणं तज्जन्यबुद्धिनिर्ग्राह्यमित्यर्थः । ननु तवापि गकारौकारविसर्जनीया गोत्व-
वाचका इति व्यवहारानुपपत्तिरिति चेन्न । जपाकुसुमादिसंनिधानेन स्फटिकस्य
रक्तत्वादिवदभिव्यञ्जकध्वनिरूपितस्यैव प्रतीतेः । आन्तरोऽन्तःकरणपरिणामो व्यापकः
स्फोट एक एव । तत्तत्स्थानादौ वाय्वभिघातेन वैखरीरूपो वर्णो ध्वनिरूप
इति एकैकोऽपि स पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितश्च । नचैवं ततोऽपि बोधप्रसङ्गः,

सहकारिवर्णान्तराभावात् । सहकारिवर्णान्तरसंबन्धेन च गोगणगौरनगरइत्येवं नाना-
 त्वमिवापन्नो भवति सं स्फोटः । तत्र च पूर्वं वर्णो गकार उत्तरेणौकारेण गणादिभ्यो
 व्यावर्त्य उत्तरश्चौकारः (पूर्वगकारेण) शोचिरादिभ्यो व्यावर्त्य विशेषे गोत्ववाचके
 गोपदस्फोटेऽवस्थापितोऽनुसंहारबुद्ध्या तदाकारत्वेन गृहीतः स्फोट इति हेतोर्बहवो
 वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्ना इत्यन्त एते सर्वाभिधानशक्तिमन्तः गका-
 रौकारविसर्जनीया अर्थबोधका इति लौकिकानां भ्रमात् । प्रत्येकं गकारादिपु तत्तादा-
 त्म्येन वाचकत्वभ्रमात् । तत्त्वतस्तु गौरित्याद्येकं पदमिति एकबुद्धिविषयत्वादेकं पदम्
 औपाधिकभागवत्त्वेपि परमार्थतोऽभागमत एव भागक्रमरहितमत एव वर्णविलक्षणं
 विलक्षणप्रयत्नजन्यतत्तद्भूतिसमूहव्यङ्ग्यं बुद्धितत्त्वाश्रयं पूर्वपूर्ववर्णज्ञानजन्यसंस्कार-
 सहकृतान्त्यवर्णज्ञानजन्यसंस्कारसंस्कृतचित्तग्राह्यं वाचकम् । नन्वेवमीदृशं चेत्
 तादृशं कुतो नोपलभ्यते कदाचित् स्फटिकस्य खच्छस्योपलम्भवदिति चेन्न । परप्र-
 तिपिपादयिष्योच्चार्यमाणवर्णैरुच्चारयितृभिः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिः क्रियमाणो योऽय-
 मनादिवाग्व्यवहारस्तत्तद्वर्णनिबन्धनस्तज्जन्ययाऽनादिवासितलोकबुद्ध्या वर्णरूपितप-
 दावगाहिन्यैव सकलवृद्धसंवादेन तस्य संप्रत्ययात् । उपाधिं विना तस्य कथमपि
 अनभिष्यक्तेर्न तस्य वर्णानालिङ्गितः प्रत्यय इति तत्त्वम् । तादृशे एव प्रतीते संके-
 तग्रहात्, एतावतां वर्णानामेवंजातीयक्रमवान् एकबुद्धिविषयोऽस्यार्थकस्य वाचक
 इति संकेतग्रहभ्रमो लौकिकानाम् । तैर्गकारादीनामपि तद्भागतया तत्तादात्म्येन
 तेष्वपि वाचकत्वारोपात् । इदमेवाभिप्रेत्य एषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामङ्गीकृतक्र-
 माणां बुद्धिनिर्ग्राह्यमेकं पदं वाचकमिति भाष्ये उक्तम् । वस्तुतः संकेतग्रहस्तथाप्र-
 तीते आन्तर एव स्फोटे । ननु यदि अस्यार्थस्यायं वाचक इति संकेतस्तदा पर-
 स्पराध्यासः कथमिति चेन्न । पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपो योऽयं शब्दः सोऽय-
 मर्थो योऽयमर्थः स शब्द इत्येव संकेतग्रहात् । एवमाकारसंकेते कदाचिद्भेदमा-
 रोप्य राहोः शिर इतिवत्षष्ठीप्रयोगात् । एतेन तेषां गृहीतसंकेतानां तद्व्यञ्जकत्वम-
 गृहीतसंकेतानां वेत्यादिविकल्पनमपास्तम् । अगृहीतसंकेतैरपि तस्य व्यञ्जनात् ।
 व्यक्तादपि बोधो न संकेतग्रहाभावादित्यन्यत् । अतएवागृहीतार्थकेऽपि इदं पदमि-
 त्यनुभवो जायत एव । अर्थस्त्वान्तरो निरूपित एव । अतएवैते शब्दार्थप्रत्यया
 इतरेतराध्यासात्संकीर्णाः गौरितिप्रत्ययो गौरित्यर्थो गौरितिशब्द इति य एषां प्रवि-
 भागज्ञः स सर्वभूतरुतज्ञः । एतेनास्माकं शब्दार्थज्ञानभेदसाक्षात्कारेऽपि तस्य संय-
 मजन्यत्वाभावाच्च सर्वभूतरुतज्ञानमित्यपास्तम् । सूत्रभाष्यविरोधात् । वस्तुतस्तु
 कल्पितपदविभागमेकमखण्डवाक्यमेव वाचकम् । यथा पदावयवत्वकल्पनाकल्पित-
 तादात्म्येन वर्णानां पदार्थवाचकत्वमेवं पदानामप्यस्ति वाक्यार्थवाचकत्वम् ।
 अतएव वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते । लोको हि पदार्थमस्यर्थेन मेलयित्वा वाक्यार्थ
 करोतीति । तेन पदार्थमात्रस्याव्यभिचारात् । लोकत एव हि पदानामर्थावधार-
 णम् । तथा पचतीत्युक्ते तदन्वययोग्यसर्वकारकाक्षेपः । चैत्रोऽग्निना स्थाल्यां
 तण्डुलानिति प्रयोगस्तु नियमार्थः । नच पदस्य वाक्यार्थशक्तिमत्त्वे तन्मात्रात्तदार्था-
 चसायः स्यादिति वाच्यम् । वाक्यादेव प्रतीतेः लौकिकानां वर्णेष्विव तद्भूमः ।

इमानि पदानि अस्य वाक्यार्थस्य बोधकानीत्युक्तप्रायस्तात् । नन्वेवं पदैकदेशप्रत्ययप्रकृत्यादीनां तत्तदर्थं व्याकरणं कृतं विरुध्येतेति चेन्न । वाक्यात्पदान्यपोद्धृत्य वाक्यार्थाच्च तत्तदर्थमपोद्धृत्य तत्तदंशे च तत्तदर्थवत्त्वं प्रकल्प्यान्वाख्यानलाघवाय प्रकृतिप्रत्ययादिविभागकल्पनया व्याकरणारम्भात् । अन्वाख्यानाभावे घटो भवति तिष्ठति, अश्वस्त्वमश्वो याति, अजापयः पिवाजापयः शत्रूनिति नामाख्यातसारूप्यान्नामत्वेन वा ज्ञातं क्रियार्थकं कारकाथकं नेति कथं वा ज्ञायेत कथं वान्यान्प्रति तत्तदर्थकत्वेन व्याक्रियेत चेति दिक् । एवमनादिसंकेतापादितः संकरोऽध्यासजन्यः । एवं च संकेतौपाधिकः संकरो वास्तवस्तु विभाग एव । यथा श्वेत इति पूर्वापरीभूतावयवसाध्यरूपक्रियार्थः शब्दः श्वेतः प्रासाद इति कारकाथः शब्दः । अभिहितत्वाच्च कारकविभक्तेरभावः क्रियाकारकात्मा च तदर्थः । तदर्थविषयश्च प्रत्यय इत्यस्ति विभागो निरुपाधिकः तत्प्रविभागसंयमाद्योगी सर्वभूतानां पशुपक्षिमृगादीनां यानि रूतानि तत्रापीदं पदं अयमर्थोऽयं प्रत्यय इति ज्ञानवान् भवति । तदिह मनुष्यवचनवाच्यप्रत्ययेषु कृतः संयमस्तत्समानजातीयेषु तेष्वपि कृत इति तेषां शब्दमेदमर्थमेदं प्रत्ययं च योगी जानातीति सिद्धमिति दिक् ॥ १७ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

कारसंयमेनेति सूत्रस्यादौ पूरणीयम् । संस्कारश्च द्विविधः । ज्ञानरागादिवासना धर्माधर्मौ च । तेषु पूर्वजन्मसंस्कारेषु संयमात्साक्षात्कृतेषु पूर्वजन्मज्ञानं जातिस्मरता भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् । संस्कारसंयमेत्यादि । संस्कारो द्विविधः । ज्ञानरागादिवासरूपो धर्माधर्मरूपश्च । पूर्वजन्मभवे ह्येतस्मिन् द्विविधेऽप्रत्यक्षेऽपि श्रुतानुमानाभ्यां ज्ञात्वा संयमेन साक्षात्कृते पूर्वजातिज्ञानं जातिस्मरता भवतीत्यर्थः । एवं परकीयसंस्कारसाक्षात्करणात्परजातिज्ञानमपि भवतीति बोध्यम् ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वीयचित्तवृत्तेः संयमेनाश्रयादिरूपैरशेषविशेषैः साक्षात्करणात्परस्य चित्तमपि संकल्पमात्रेणैव ज्ञायत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् । प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वीयचित्तवृत्तेः संयमेनाश्रयादिरूपैरशेषविशेषैः साक्षात्करणात् परस्य चित्तमपि संकल्पमात्रेणैव ज्ञायत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

कायरूपसंयमात्तद्वाह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्र-

काशाऽसंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २० ॥

स्वशरीरस्य रूपं संयमात्कारणाद्यशेषविशेषैः साक्षात्कृते सति संकल्पमात्रेण

स्वकीयरूपस्य दृश्यताशक्तिं परचक्षुःसंयोगयोग्यतां स्तश्चाति प्रतिवध्नाति । ततश्चक्षुःकिरणैरसंयोगेऽन्तर्धानं योगिन उत्पद्यते । दिवान्धेनेव केनाप्यसौ न दृश्यत इत्यर्थः । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात्तद्वाह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् । स्वशरीरस्य रूपे संयमात् कारणाद्यशेषविशेषैः साक्षात्कृते सति संकल्पमात्रेण स्वीयरूपस्य दृश्यताशक्तिं परचक्षुर्योग्यतां स्तश्चाति प्रतिवध्नाति तस्मिंश्च सति चक्षुःकिरणैरसंयोगेऽन्तर्धानं भवतीत्यर्थः । केनाप्यसौ न दृश्यत इति भावः ॥ २० ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २१ ॥

सोपक्रमं तीव्रवेगेन फलदातृ । निरुपक्रमं मन्दवेगेन फलदातृ । एवंभूतं यत्कर्मार्थात्प्रारब्धफलकमायुष्करं तत्साक्षात्कारेणैवायुर्निर्णयौचित्यात्, तत्र संयमात्तदन्यतररूपेण तत्साक्षात्कारे सति अपरान्तस्य पश्चिमस्य मरणस्य ज्ञानं भवति । शीघ्रविलम्बान्यतरविशेषेणेति शेषः । आरब्धफलकस्यायुष्करकर्मणो हि तीव्रवेगतः फलदातृतया साक्षात्कारे सति आयुर्हासो जायते, इतरथा वैपरीत्यं जायत इति योगिभिरवधानार्थं मरणकालो ज्ञातव्य इत्याशयेन । प्रसंगान्मरणज्ञानस्योपायान्तरमाह—अरिष्टेभ्यो वेति । अरिष्टानि वसिष्ठसंहिता-मार्कण्डेयपुराणादिषूक्तानि ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा । सोपक्रमं तीव्रवेगेन फलदातृ, निरुपक्रमं मन्दवेगेन फलदातृ, एवंभूतं यत्प्रवृत्त-फलकमायुष्करं कर्म तत्साक्षात्कारेणैवायुर्निर्णयौचित्यात्, तत्र संयमात्तदन्यतररूपेण साक्षात्कारे सति अपरान्तस्य मरणस्य कालज्ञानं भवतीत्यर्थः । तत्र तीव्रवेगत्वेऽल्पकालता । मन्दवेगत्वे विलम्बः । अरिष्टेभ्यो वा । अरिष्टानि मार्कण्डेयपुराणाद्युक्तानि यथा पिहितकर्णस्यान्तर्घोपाश्रवणं नेत्रेऽवष्टब्धे ज्योतिरदर्शनमित्यादीनि ॥ २१ ॥

दिनमाससंवत्सराः ॥

दिनमाससंवत्सरादिभेदैर्मृत्युचिह्नानि । तेभ्यो वा लिङ्गेभ्यो मरणज्ञानं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु संयमान्मैत्र्यादितत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्ताद्वलानि अवन्ध्यानि वीर्याणि भवन्ति । परेषु मैत्र्याद्यर्थं प्रयत्नो निष्फलो न भवतीति यावत् । आदि-शब्देन करुणामुदितयोः प्रथमपादोक्तयोर्ग्रहणम् ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि । सुखितेषु मैत्री दुःखितेषु करुणा पुण्यशैलेषु मुदिता

१ इदं सूत्रमधिकमत्रैव दृश्यते ।

आसु तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तसंयमात् बलानि अवन्ध्यानि वीर्याणि भवन्ति परेषु
मैत्र्याद्यर्थं प्रयत्नो विफलो न भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २३ ॥

हस्त्यादिवलेषु संयमात्तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्ताद्बस्त्यादिवलानि भवन्ति ।
आदिशब्देन गरुडवाय्वादिग्रहणम् ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि । हस्त्यादिवलेषु तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तात्संयमाद्ब-
स्त्यादिवलं भवति । आदिना गरुडवाय्वादिग्रहणम् ॥ २३ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहि- तविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २४ ॥

ज्योतिष्मती नाम बुद्धिपुरुषान्यतरसाक्षात्काररूपिणी मनसः प्रवृत्तिः प्रथम-
पादे प्रोक्ता तस्या य आलोकस्तत्कालीनो यः सत्त्वप्रकाशस्तं योगी सूक्ष्माद्यर्थेषु
विन्यस्य तद्गोचरक्षणप्रणिधानमात्रं कृत्वा तं तमर्थं साक्षात्करोतीत्यर्थः । व्यव-
हितमावृतं विप्रकृष्टं दूरदेशस्थम् । अत्र चक्षुर्न्यासवदालोकन्यासमात्रवचनात्तेषु
संयमापेक्षा नास्ति । परम्परया बुद्ध्यादिविषयकसंयमसाध्यत्वेनैव त्वस्या विभूतेः
संयमसिद्धिमध्ये पठनमिति ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् । ज्योतिष्मती नाम
बुद्धिपुरुषान्यतरसाक्षात्काररूपा मनसः प्रवृत्तिराद्यपादे उक्ता । तस्या य
आलोकस्तत्कालिको यः सत्त्वप्रकाशस्तं योगी सूक्ष्माद्यर्थेषु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु
विन्यस्य तद्गोचरक्षणप्रणिधानेनापि तमर्थं साक्षात्करोतीत्यर्थः । चक्षुर्न्यासवदालो-
कन्यासमात्रवचनात्तेषु संयमापेक्षाभावः । परम्परया बुद्ध्यादिविषयकसंयमसाध्यत्वेन
चास्या विभूतेस्तत्सिद्धिमध्ये पठनमिति बोध्यम् ॥ २४ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २५ ॥

सूर्यमण्डले संयमात्तद्गताशेषसाक्षात्कारे सत्यशेषविशेषतश्चतुर्दशभुवन-
ज्ञानम् ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । सूर्यमण्डले संयमात् तद्गताशेषविशेषसाक्षात्का-
रेऽशेषतश्चतुर्दशविशेषभुवनज्ञानं भवतीत्यर्थः । एतत्संयमोपयोगो नानाविधलोकग-
तीर्हृष्टाल्यन्तवैराग्यायेति बोध्यम् ॥ २५ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २६ ॥

चन्द्रमण्डले संयमादशेषविशेषसाक्षात्कारपर्यन्तात्ताराव्यूहस्य नक्षत्रमण्ड-
लस्य तथा ज्ञानं भवति ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् । चन्द्रमण्डले संयमेन तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारे
ताराव्यूहस्य नक्षत्रमण्डलस्य तथा ज्ञानं भवति ॥ २६ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २७ ॥

ध्रुवे तथा संयमात्ताराणां गतिमशेषविशेषतो जानाति ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् । ध्रुवे संयमात्ताराणां गतिमशेषविशेषतो जानाति ॥ २७ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २८ ॥

कदलीकन्दवदादावुत्पन्नं नाभिकन्दरूपं चक्रं शरीरमध्यवर्ति यतः शाखा-
पल्लवादिवच्छिरःपादादिकमवयवजातमूर्ध्वाधःपार्श्वेष्वविर्भवति । तस्मिन्नाभि-
चक्रे संयमात्साक्षात्कृते कायस्थं पदार्थव्यूहं वातपित्तत्वगसृगादिरूपं साक्षा-
त्क्रियते ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् । कदलीकन्दवदादावुत्पन्नं नाभिकन्दरूपं
नाभिचक्रं शरीरमध्यवर्ति यतः शाखापल्लवादिवा शिरःपादादिकमवयवजातमू-
र्ध्वाधःपार्श्वेष्वविर्भवति, तस्मिन्नाभिचक्रे संयमात्साक्षात्कृते सति कायस्थं व्यूहं
पदार्थजातं वातपित्तत्वगसृगादिरूपं साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ २९ ॥

कूपाकारं कण्ठच्छिद्रं हृदयपर्यन्तं तिष्ठति । तस्मिन् संयमादशेषविशेषतः
साक्षात्कृते सति क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः । कूपाकारं कण्ठच्छिद्रं हृदयपर्यन्तं तिष्ठति
तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ २९ ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३० ॥

कुण्डलीसर्पवदवस्थिततया कूर्माकारं हृदयपुण्डरीकाख्यं नाडीचक्रम् । तत्र
संयमाद्यथोक्ताच्चित्तस्थैर्यं भवति ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् । सर्पकुण्डलिवदवस्थिततया कूर्माकारा हृदयपुण्डरीके
नाडी तत्र संयमाच्चित्तस्य स्थैर्यं भवति ॥ ३० ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि शिरःकपालान्तश्छिद्रस्थे भौतिकज्योतिषि संयमाद्यथोक्ताद्
द्यावापृथिव्योरन्तरचारिणः सिद्धा दृश्यन्ते ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् । मूर्धज्योतिषि शिरःकपालान्तश्छिद्रगत-
सुषुम्नानाडीस्थे भौतिकज्योतिषि संयमाद्यथोक्ताद् द्यावापृथिव्योरन्तरचारिसिद्धदर्शनं
भवति ॥ ३१ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३२ ॥

प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानं, विवेकजस्य वक्ष्यमाणसर्वज्ञस्य
पूर्वरूपं यथा सूर्योदयस्य प्रभा पूर्वरूपं तद्वत् । तच्च वक्ष्यमाणलक्षणं, तत्र
क्रमाज्जायत इति भाष्यकृतोक्तम् । तस्मात्प्रातिभाद्वा सर्वं पूर्वोक्तमतीतानाग-

तादि सिद्धदर्शनपर्यन्तमन्यद्वा जिज्ञासितं योगी जानाति । पूर्वोक्तात्संयमात्संय-
मान्तराणि विनापीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् । प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानं विवेकजस्य वक्ष्य-
माणसार्वज्ञ्यस्य पूर्वरूपं यथा सूर्योदयस्य पूर्वरूपं प्रभा तद्वत् । तच्च वक्ष्यमाणं क-
माज्जायते । ततः प्रातिभाद्वा सर्वं पूर्वोक्तमतीतानागतादिसिद्धदर्शनपर्यन्तमन्यद्वा
जिज्ञासितं योगी जानाति संयमान्तराणि विनापीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

संयमस्य क्षुद्रसिद्धय उक्ताः । इदानीमात्मसाक्षात्काररूपां संयमस्य मुख्य-
सिद्धिं वक्तुमादौ तत्संयमहेतोश्चित्तसाक्षात्कारस्य कारणं संयममाह—

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३३ ॥

हृदयाकाशे चित्तभूमौ संयमात्साक्षात्कारपर्यन्ताद्बुद्धिसाक्षात्कारो भवती-
त्यर्थः ॥ ३३ ॥

अथात्मसाक्षात्काररूपां संयमस्य मुख्यसिद्धिं वक्तुमादौ तत्संयमहेतोश्चित्तसा-
क्षात्कारस्य कारणं संयममाह—**हृदये चित्तसंवित् ।** हृदयाकाशे ब्रह्मपुराख्ये
दहराख्यं तद्वि चित्तस्य वेश्म गृहं स्थानं तत्र साक्षात्कारपर्यन्तसंयमात्सकलवृत्ति-
विशिष्टचित्तसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

चित्ते ज्ञाते चित्ताद्विवेकेनात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यौत्सर्गिकक्रममनुसृत्याह—

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः

परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोर्बुद्धिपुरुषयोरत्यन्तविधर्मिणोरपि प्रत्ययाविशेषः प्रत्ययाविवेको
भोगशब्दार्थः । तयोः प्रत्यययोर्मध्ये परार्थात्प्रत्ययाद्विवेकेन स्वार्थं पौरुषेये प्रत्यये
संयमात्साक्षात्कारपर्यन्ताद्धेतोः स्वयमेव पूर्णत्वाद्यशेषविशेषैः पुरुषसाक्षात्कारो
भवति । तादृशसंयमाभावेऽपीत्यर्थः । बुद्धेः प्रत्ययः शब्दाद्याकारा सुखाद्या-
भिका वृत्तिः । पुरुषस्य प्रत्ययश्च तदवच्छिन्नचैतन्यम् । तत्र चैकैकमात्रमेकैकस्य
गोणो भोगः । स च 'चिदवसानो भोगः' इति सांख्यसूत्रे योगभाष्ये च सिद्धः ।
अनेन सूत्रेण तप्तायःपिण्डवदविविक्तं तदुभयमेव भोग इति लोकव्यवहारेणो-
क्तम् । लोकैर्हि शब्दादिग्रहीता अहं सुखीत्याद्यभिमानपूर्वकसुखाद्यनुभव एव
भोगतया व्यवहियते । अतोऽयं सुखभोग इति भोगमध्ये चैतन्यस्य विवेक्तव्य-
तयात्र सूत्रेऽपि भोगोऽपि लक्षितः । आत्मतत्त्वज्ञानार्थिभिश्चायमेव संयमः
सततं कर्तव्य इति ॥ ३४ ॥

चित्ते च ज्ञाते ततो विवेकेनात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यौत्सर्गिकक्रममाश्रित्याह—
**सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थ-
संयमात्पुरुषज्ञानम् ।** सत्त्वं हि स्वप्रकाशरूपमिति स्वच्छं तच्च स्वाविनाभूते अपि
रजस्तमसी अभिभूय विवेकख्यातिरूपेण परिणमते तत्तथापरिणताद्बुद्धिसत्त्वादपि

यदि चैतन्यं शुद्धं ततो विभक्तं ततः किं वक्तव्यं जडस्वभावाभ्यां रजस्तमोभ्या-
मिति सूचयितुं सूत्रे सत्त्वेत्युक्तम् । तयोः सत्त्वपुरुषयोर्बुद्धिचैतन्ययोः परिणामि-
त्वापरिणामित्वरूपविरुद्धधर्माध्यासादत्यन्तासंकीर्णयोरपि योऽनाद्यविद्यावासनावशा-
त्प्रत्ययाविशेषः प्रत्ययद्वयाविवेकोऽभेदभ्रमो वा स भोगः । शान्तघोरमूढप्रत्यय-
रूपबुद्धिवृत्तिप्रत्ययधर्मशान्तत्वादीनां परस्परप्रतिविम्बाच्चैतन्येऽध्यारोप इति यावत् ।
यतः सा पुरुषाय दर्शितविषया, स्वतस्तस्याः परिणामित्वेन विषयग्रहणाभावात् ।
तत्र बुद्धिः वृत्तिरूपा परार्थत्वादस्योतः (?) परार्थात् तस्माद्भिन्ने विवेकेन स्वार्थे पुरुष-
रूपप्रत्यये यः साक्षात्कारपर्यन्तः संयमस्तस्माद्धेतोः स्वयमेव पूर्णत्वकूटस्थत्वाद्यशेषवि-
शेषैः साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । अत्र परार्थत्वं परस्य भोगापवर्गसाधनत्वं, स्वार्थत्वं
तु परार्थत्वाभाव एव स्वस्य भोगापवर्गसाधनत्वम् । अत्र भोगः स्वात्मकविषयानुभव
एवेति केचित् । ननु पुरुषविषयः साक्षात्कारश्चेत्स तस्य विषय इति साक्षात्कारा-
न्तरमायातं, बुद्धिसत्त्वात्मना तु प्रत्ययेन जडत्वान्न स्वविवेकेन पुरुषज्ञानं भवतीत्य-
नवस्था, स्वस्वरूपत्वे कथं तस्य संयमफलत्वं प्रागेव सिद्धत्वादिति चेन्न । घटाकाश-
वच्छब्दादिवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यभागस्य वृत्तिविवेकेन साक्षात्कारस्य परिपूर्णत्वादिरूपै-
रखिलप्रपञ्चविवेकेन तत्साक्षात्कारस्य तत्फलत्वात्, बुद्धिसत्त्वगतपुरुषप्रतिविम्बाल-
म्बनोऽयं पुरुषात्मकः प्रत्यय इत्यदोषाच्च । निष्ठत्वस्य स्वरूपस्थित्यैव । तथाच श्रुतिः
—‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात्’ इति । बुद्धेः प्रत्ययः शब्दादिसुखाद्याकारा
वृत्तिः, पुरुषप्रत्ययश्च स्वरूपः बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यमिति केचित् । तत्त्वज्ञानार्थिनां
चायमेव संयमो मुख्यः । तत्रास्य संयमस्य पुरुषज्ञानात्मरूपविभूतयः ॥ ३४ ॥

स्वार्थप्रत्ययसंयमेनात्मसाक्षात्कारे जाते तच्चिह्नानि वक्ष्यमाणलक्षणस्य विवे-
कजज्ञानस्य पूर्वरूपाणि प्रातिभाद्याः सिद्धयो भवन्ति । ताश्च पौरुषैकाग्रपरिप-
न्थित्वेनासंप्रज्ञातयोगे विघ्नभूता इति प्रतिपादयितुमादौ ताः प्रदर्शयति—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता

जायन्ते ॥ ३५ ॥

ततः पुरुषसाक्षात्कारान्मनआदीनां प्रातिभादिसंज्ञाः षट्सिद्धयः सामर्थ्यवि-
शेषरूपा भवन्तीत्यर्थः । तत्रोपदेशादिकं विनापि सूक्ष्मव्यवहितादिषु मनसो
यथार्थज्ञानसामर्थ्यं प्रातिभमित्युच्यते । श्रोत्रस्य तादृशं सामर्थ्यं श्रावणम् ।
त्वचस्तादृशं सामर्थ्यं वेदनम् । चक्षुष आदर्शः । रसनाया आस्वादम् ।
घ्राणस्य वार्तेति ॥ ३५ ॥

फलं तावद्दर्शयति—ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जा-
यन्ते । तत उक्तसंयमात् प्रातिभादिसंज्ञाः षट्सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः । दृष्टकारणं
विनैवाकस्माद्व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्मार्थेषु यथार्थज्ञानसामर्थ्यं प्रातिभा-
तज्जन्यं ज्ञानं प्रातिभं मनसः सिद्धिः । तथा व्यवहितादिश्रवणसामर्थ्यं श्रोत्रस्य
सिद्धिः । त्वचस्तादृशं सामर्थ्यं वेदनं, चक्षुष आदर्शः, रसनाया आस्वादः, घ्राणस्य
वार्तेति ॥ ३५ ॥

एतासूपेक्षां कृत्वा समाधिरेवासंप्रज्ञातार्थं कार्यं इति प्रतिपादयितुमाह—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३६ ॥

ते प्रातिभाद्याः समाधौ विघ्नरूपा व्युत्थाने व्युत्थितचित्तानामेव सिद्धयः
पुरूपार्थाः ॥ ३६ ॥

एतास्तूपेक्षणीया योगिन इत्याह—ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने
सिद्धयः । स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

तदेवं ज्ञानादिरूपाः संयमसिद्धीः प्रदर्श्य क्रियारूपा अपि संयमसिद्धीराह
सूत्रजातेन—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च

चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३७ ॥

चञ्चलस्वभावस्यापि मनसो धर्माधर्मवशादेव शरीरे बन्धो ज्ञानहेतुसंयोग-
स्थैर्यं भवति । तस्य बन्धकारणस्य कर्मण इत्यर्थः । शैथिल्यं दृढबन्धनाक्षमता-
रूपतानवं तस्माच्चित्तस्य प्रचारसंवेदनमनया नाड्या एवंप्रकारेण चित्तं शरीरे
प्रविशति निर्गच्छतीत्येवंरूपं योगजधर्माजायते । ततस्ताभ्यां योगिनां पर-
शरीरावेशरूपा सिद्धिर्भवति । एवंच स्वशरीराह्लिङ्गशरीरं निस्सार्य परशरीरे
प्रवेश्यत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अथ क्रियारूपाः संयमसिद्धीराह—बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च
चित्तस्य परशरीरावेशः । चञ्चलस्वभावस्य मनसो धर्माधर्मवशाच्छरीरे
बन्धो ज्ञानहेतुसंयोगस्थैर्यं तत्कारणस्य कर्मणः शैथिल्यं दृढबन्धनाक्षमतरूपं
तानवं तस्माच्चित्तस्य प्रचारसंवेदनमनया नाड्या एवंप्रकारेण चित्तं शरीरे प्रविशति
इत्येवंरूपं योगजधर्माजायते । तस्माच्च योगी स्वशरीराचित्तं निःसार्य परशरीरे
प्रवेशयतीत्येषा परशरीरावेशरूपा सिद्धिरित्यर्थः । इन्द्रियाणि च चित्तमनुप्रविशन्ति
यथा मधुकरराजं मक्षिकावत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानं च निविशन्ति । एवं च
लिङ्गदेहस्य परशरीरेऽनुप्रवेश इति फलितम् ॥ ३७ ॥

योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषजसोदानजयस्य सिद्धिमाह—

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग

उत्क्रान्तिश्च ॥ ३८ ॥

रसाद्यूर्ध्वनयनादूर्ध्वगतिप्रदत्वाच्चोर्ध्वसंचारी प्राणस्यावान्तरभेद उदान
उच्यते । संयमविशेषेण तस्य जयात्स्वायत्ततायां सत्यां जलादिषु संचरतोऽपि
तेष्वसङ्गो विकारहेतुसंयोगशून्यता भवति । तथा अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगम-
नाय ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा लिङ्गशरीरस्य वहिर्निःसरणं च स्वेच्छया भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ।
रसाद्यूर्ध्वनयनादूर्ध्वगतिप्रदत्वाच्चोर्ध्वसंचारी प्राणावान्तरभेद उदानः संयमविशेषेण

तस्य जये स्वायत्ततायां जलादिषु संचरतोऽपि तेष्वसङ्गो विकारहेतुसंयोगशून्यता भवति । तथाचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनाय ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा लिङ्गदेहस्य वह्निर्निःसरणं स्वेच्छया भवतीत्यर्थः । तत्र प्राणो मुखनासिकागतिरा नासिकाग्रादाहृदयमवस्थितः । मूत्रपुरीषगर्भादीनामपसरणहेतुरपान आ नाभेरापादतलवृत्तिः । उदानस्तूत्तलक्षण आ नासिकाग्रादाशिरोवृत्तिः । व्यापी व्यान इति ॥ ३८ ॥

समानजयात्प्रज्वलनम् ॥ ३९ ॥

समं सर्वनाडीषु रसानां संचारणात्समानः प्राणभेदस्तस्य संयमविशेषेण स्वायत्ततायां सत्यां तत्प्रज्वलितेन शरीराग्निना शरीरस्य प्रज्वलनं दाहो भवति सतीदेहस्येवेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

समानजयात्प्रज्वलनम् । प्रज्वलनं शारीरतेजस उत्तेजनेन शरीरस्य दहनं सतीदेहस्येव ॥ ३९ ॥

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमादिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४० ॥

श्रोत्रस्याहङ्कारिकत्वेऽप्याकाशसंसृष्टाहङ्कारकार्यतया श्रोत्राकाशयोराधाराधेयभावः संबन्धोऽस्ति । तस्य संयमात्साक्षात्कारे सति दिव्यं श्रोत्रं जायते । येन व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मशब्दा ग्राह्या भवन्तीत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत् । त्वग्वातयोश्चक्षुस्तेजसो रसनोदकयोर्ग्राणपृथिव्योः संबन्धसंयमादिव्यत्वगादीत्यपि बोध्यम् ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमादिव्यं श्रोत्रम् । आहंकारिकस्यापि श्रोत्रेन्द्रियस्य कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नं नभ आधारः । तदुपकारापकाराभ्यां श्रोत्रस्य तद्दर्शनात् । एवमाहंकारिकाणामेव घ्राणरसनत्वक्चक्षुषां पृथ्वीजलवायुतेजांसि भूतान्यधिष्ठानानि । एवं तत्तद्ग्राह्यगुणाधिष्ठानानि च तानि द्रव्याणि । यथा शब्दानामाकाशं गन्धस्य पृथ्वी रसस्य जलं स्पर्शस्य वायुः रूपस्य तेज इति । स्वाश्रयवृत्तितद्गुणसामानाधिकरण्यादेव तत्तद्गुणसहकारेण बाह्यपृथिव्यादिशब्दग्रहणरूपकार्यं कुर्वन्ति । तत्राहंकारिकं श्रोत्रमयस्तुल्यमयस्कान्तमणितुल्येन वक्तृवक्त्रसमुत्पत्तिमता वक्त्रस्थेन शब्देनाकृष्टं स्ववृत्तिपरंपरया वक्तृवक्त्रमागतं शब्दं गृह्णाति । अतएव तत्तद्दिदेशवर्तित्वेन शब्दप्रतीतिः सर्वानुभवसिद्धोपपन्ना । एवं श्रोत्राधिष्ठानत्वं शब्दगुणत्वं चाकाशलक्षणम् । एवमनावरणमपि तल्लक्षणम् । अन्यथा मूर्तैरन्योन्यसंपीडितैः सर्वैः सर्वमावृतं स्यात् । नच मूर्तद्रव्याभावादेवानावरणं, अभावस्यानङ्गीकारात् तस्यापि भावाश्रितत्वाच्च । नापि पुरुषकृतं तत् । तस्यापरिणामितयावच्छेदकत्वाभावात् । तस्माच्छब्दतन्मात्रस्य परिणामविशेषो नभ अनावरणकृत् । दिगपि तत्तदुपाधिविशिष्टं नभ एव । अनावरणस्य सर्वत्र दर्शनान्नभसो विभुत्वम् । तादृशस्य श्रोत्राकाशयोः संबन्धस्य संयमात्साक्षात्कारे सति तस्य व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मशब्दग्रहणयोग्यतारूपं दिव्यत्वं भवतीत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत् त्वग्वातयोश्चक्षुस्तेजसो रसनजलयोर्ग्राणपृथिव्योः संबन्धसंयमादिव्यं त्वगादीत्यपि बोध्यम् ॥ ४० ॥

कायाकाशयोः संवन्धसंयमाल्लघुतूलसमा- पत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४१ ॥

यत्र कायस्तत्राकाशमिति व्याप्तिरूपसंवन्धोऽस्ति । अवकाशं विना शरीराव-
स्थानासंभवात् । तस्मिन् संवन्धे संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादाकाशगमनं संभवति ।
लघुतूलादिषु समापत्तेः संयमजलघुत्वसाक्षात्कारादपि भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः संवन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ।
यत्र कायस्तत्राकाशमिति व्याप्तिरूपः संवन्धोऽस्ति अवकाशं विना शरीरावस्थाना-
संभवात् । तत्र संवन्धे पूर्णसंयमस्याकाशगमनं भवति । किंच लघुतूलादिषु परमा-
णुपर्यन्तेषु संयमजयाल्लघुत्वसाक्षात्कारे वा तत् । जलादौ पद्भ्यां विहरणमूर्णना-
भितन्तुमात्रे विहारादिकं त्वार्थम् ॥ ४१ ॥

वहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रका- शावरणक्षयः ॥ ४२ ॥

योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषाद्वक्ष्यमाणाद्वहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहाख्या
सिद्धिर्भवति । ततश्च प्रकाशावरणस्य बुद्धिसत्त्वावरकस्य रजस्तमआदेः क्षयो
भवति । तेषां क्षये च निरावरणं योगिनिश्चितं स्वेच्छया विहरति जानाति
चेत्यर्थः । शरीरप्रतिष्ठस्यैव मनसो वहिर्व्यवहितेषु वृत्तिः कल्पितेत्युच्यते । यानु
शरीरनैरपेक्ष्येण तच्चागेन वहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता महाविदेहोच्यते
इति ॥ ४२ ॥

वहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः । योग-
शास्त्रोक्तसंयमविशेषाद्वक्ष्यमाणाद्वहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहाख्या सिद्धिस्तस्यां
सत्यां प्रकाशावरणस्य बुद्धिसत्त्वावरकस्य रजस्तमआदेः क्षयो भवति तत्क्षये च
निरावरणं योगिचित्तं स्वेच्छया विहरति जानाति चेत्यर्थः । शरीरप्रतिष्ठस्यैव मनसो
वहिर्व्यवहितादिषु वृत्तिः कल्पिता । या शरीरनैरपेक्ष्येण वहिर्व्यवहितादिषु वृत्तिः
साऽकल्पिता महाविदेहेत्युच्यते । पूर्वया चोत्तरा साधनीया । तथा च रजस्तमो-
मूलकसर्वक्लेशकर्मविपाकक्षयः परशरीरावेशश्च सिध्यति ॥ ४२ ॥

तदेवं परिणामत्रयसंयमादित्यारभ्योच्चावचविषयसंयमानां ज्ञानकर्मरूपाः
सिद्धयस्तत्तत्कामेभ्य उपदिष्टाः । इदानीं वितर्कविचारेत्यादिसूत्रैश्च शास्त्रे मुख्यतः
प्रकृतेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ये संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः । तत्र ग्रहीतृग्रहण-
योर्ग्राह्यनिरूप्यत्वादादौ ग्राह्यसंयमस्य सिद्धिमाह—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंय- माद्भूतजयः ॥ ४३ ॥

स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं च स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थव-
त्त्वानि पञ्च भूतानुगतत्वाद्भूतानां रूपाणीत्युच्यन्ते । तेषु संयमात्साक्षात्कारपर्य-

न्तात्तत्तद्रूपैर्भूतानां जयो वशीकारः स्वेच्छानुविधायित्वं योगिनो भवतीत्यर्थः । तत्प्रत्यक्षेऽपि शब्दादिभिराकारादिभिश्च विशिष्टोऽवयवी स्थूलशब्देनोच्यते । आकारादयश्च धर्माः पृथिव्यादिक्रमेण शास्त्रे परिपठिताः । यथा “आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च । वृत्तिर्भेदः क्षमा काण्ड्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता । स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत् । शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः । ऊर्ध्वभाक्पाचकं दग्धं पाचकं लघु भास्वरम् । प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम् । तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम् । चलमच्छायता (रौक्ष्यं) वायोर्धर्माः पृथग्विधाः । सर्वतोगतिरव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति ते त्रयः । आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वपूर्वविलक्षणाः” इति । आकारोऽवयवसंस्थानं । वृत्तिः सर्वभूताधारता । भेदो विदारणम् । क्षमा सहिष्णुता । धारणसामर्थ्यमिति यावत् । रक्षा आवरणादिना रक्षकत्वम् । आक्षेपः पातनम् । अच्छायता छायाशून्यत्वम् । सर्वतोगतिः व्यापकत्वम् । अव्यूहः सर्वपदार्थानां प्रविरलीकरणम् । अविष्टम्भोऽवकाश इति भूतानां स्थूलरूपं व्याख्यातम् । स्वरूपाख्यं रूपं तु पृथिवीत्वजलत्वादिसामान्यपञ्चकम् । तन्मात्राणि सूक्ष्मरूपम् । प्रकृत्याख्यं गुणत्रयं वान्वयाख्यं रूपं सर्वकार्येष्वनुगतत्वात् । अर्थवत्त्वं च भूतगतं सुखदुःखादिपुरुषार्थजातमिति ॥ ४३ ॥

अथ ग्राह्यसंयमजां सिद्धिमाह—स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः । स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं चेति पञ्च भूतानुगतत्वात् भूतानां रूपाणीत्युच्यन्ते तेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात् तत्तद्रूपैर्भूतानां जयो वशीकारः स्वेच्छानुविधायित्वं योगिनो भवतीत्यर्थः । तत्र शब्दादिभिराकारादिभिश्च धर्मैर्विशिष्टोऽवयवी स्थूलशब्देनोच्यते । षड्जगन्धारादयः शब्दाः शीतोष्णादयः स्पर्शाः नीलपीतादयो रूपाणि कषायमधुरादयो रसाः सुरभ्यादयो गन्धाः । एते हि नामरूपकार्यैः परस्परस्माद्विद्यन्त इति विशेषाः । ते पञ्चापि पृथिव्यां गन्धवर्जं च चलारो जले गन्धरसवर्जं त्रयस्तेजसि गन्धरसरूपवर्जं द्वौ वायौ शब्द एक आकाशे । आकारादयश्च भूम्यादिक्रमेण पठिताः शास्त्रे । “आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च । वृत्तिर्भेदः क्षमा काण्ड्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता ॥” आकारोऽवयवसंस्थानविशेषः, वृत्तिः सर्वभूताधारता, भेदो विदारणम्, क्षमा धारणसामर्थ्यम् । “स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत् । शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः ॥” रक्षा आवरणादिना रक्षकत्वम् । “ऊर्ध्वभाक् पाचकं दग्धं पाचकं लघु भास्वरम् । प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम् ॥ तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम् । चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः ॥” आक्षेपः पातनं, छायाशून्यत्वमच्छायता । “सर्वतोगतिरव्यूहोऽविष्टम्भश्चेति ते त्रयः । आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वपूर्वविलक्षणाः ॥” सर्वतोगतिः व्यापकत्वम्, अव्यूहः सर्वपदार्थानां प्रविरलीकरणम् । अविष्टम्भोऽवकाशः । एतत्स्थूलरूपं भूतानाम् । स्वरूपाख्यं रूपं तु सांसिद्धिककाठिन्यसमानाधिकरणं भूमित्वम् । स्नेहसमानाधिकरणं जलत्वम् । उष्णतासमानाधिकरणं तेजस्त्वम् । वहनक्रियासमानाधिकरणं वायु-

त्वम् । व्यापकत्वसमानाधिकरणं शब्दवत्त्वमेवंरूपम् । समानाधिकरणधर्मा एव भूमित्वादय इत्यन्ये । धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षायां तु स्नेहो जलमिति भाष्ये प्रयुक्तम् । नन्वेतेऽपि भूतधर्मा एवेति कथमेते स्वरूपमिति चेत् । एतत्समुदायरूपं द्रव्यं स्वरूपमिति गृहाण । तथाहि—सामान्यविशेषसमुदायो द्रव्यम् । नच तदाश्रयो द्रव्यं नतु त एव समुदिता इति वाच्यम् । तदाश्रयद्रव्यवादिनापि तत्समुदायस्यावश्यमङ्गीकार्यत्वात् । अन्यथा तदाधारतैव तत्र न स्यात् एवंचावश्यकत्वात् एव द्रव्यमस्तु । न चैवं वनादेरपि द्रव्यत्वापत्तिः । अयुतसिद्धावयवविशेषानुगतसमुदायस्यैव द्रव्यत्वात् सच वृक्षः शरीरं परमाणुरित्यादि । अयुतसिद्धा अपृथक्सिद्धा निरन्तरा इत्यर्थः । वनादिरूपसमूहस्तु युतसिद्धावयवः पृथक्सिद्धाः सान्तरा अवयवा यस्य तादृशः । स द्विविधः । मेदेन विवक्षितोऽमेदेन विवक्षितश्च । यथा आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघः पटस्य शुक्ल इति च चैत्रस्य हस्त इति च । अभेदानुगतो यथा । आम्रा वनं ब्राह्मणाः संघः पटः शुक्ल इति च तन्तवः पटा इति च । स पुनर्द्विविधः । प्रत्यक्षमितभेदावयवानुगतो यथा—शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति । कश्चिच्छब्दोपात्तभेदावयवानुगतः । यथा—उभये देवमनुष्याः । समूहस्यैको भागो देवा द्वितीयो भागो मनुष्यास्ताभ्यामेवामिधीयते समूहः । गुरुत्वमपि प्रत्येकावयवगतगुरुत्वानां समूह एव प्रतीयत इति न तदाश्रयतयापि अतिरिक्तद्रव्यसिद्धिः । दशसु पापाणेषु प्रत्येकापेक्षयाधिकगुरुत्वप्रतीतिवत् । तदुक्तम् ‘अयुतसिद्धावयवविशेषानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः । एतत्स्वरूपमुच्यते’ इति भाष्ये । सूक्ष्मं रूपं तन्मात्राणि । एषामेकः परमाणुरूप एव परिणामः । परमाणुरपि शब्दादिविशेषात्मायुतसिद्धावयवविशेषानुगतः । परमाणुवदेव ततोऽपि वा सूक्ष्माणि तन्मात्राणि । प्रकृत्याख्यगुणत्रयं चान्वयाख्यं रूपं सर्वकार्यानुगतत्वात् । अर्थवत्त्वं तु भूतगतं सुखदुःखादि पुरुषार्थजातं सर्वत्र गुणान्वयात् गुणानां चैवंस्वभावात् । तज्जये सति वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्तीति दिक् ॥ ४३ ॥

भूतजयस्य फलमाह—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्त-
द्धर्मानभिघातश्च ॥ ४४ ॥

ततो भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावादिरूपं सिद्धित्रयं भवतीत्यर्थः । तत्राणिमाद्यष्टसिद्धयः स्मर्यन्ते । ‘अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः । प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेः शक्तिः प्रेरणामीशिता । गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यतीति’ । मूर्तेः शरीरस्य अणिमा अणुत्वम् । महिमा योजनादिव्यासित्वम् । लघिमा तूलादिवलघुत्वम् । भूमिष्ठ एवाङ्गुल्यग्रेण चन्द्रमसं स्पृशतीत्यादि सामर्थ्यमिन्द्रियैः प्राप्तिरित्युच्यते । श्रुतदृष्टेः प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, यथा भूमौ जलेष्विव निमज्जतीत्यादि । ईशिता तु भूतभौतिकानां सर्वेषां शरीरवत्संकल्पमात्रेण प्रेरणम् । वशिता च गुणानां भूतभौतिकानां वश्यत्वम् । सत्यसंकल्पत्वं तु यत्का-

मस्तदवस्यतीत्यनेनोक्तम् । अवस्यति प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र च सूत्रे प्राकाम्यं विहाय सप्तैव सिद्धयोऽणिमादीत्यनेन गृहीताः । प्राकाम्यं तु तद्धर्मानभिघातशब्देन गृहीतमिति विशेषः ॥ ४४ ॥

भूतानां संकल्पानुविधायकत्वे सति या सिद्धयस्ता आह—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च । ततो भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावदिरूपं सिद्धित्रयं भवतीत्यर्थः । अणिमा शरीरस्याणुत्वम् । महिमा योजनादिव्यापित्वम् । गरिमा गुरुत्वम् । लघिमा तूलादिवलघुत्वम् । प्राप्तिः भूमिष्ठ एवाङ्गुष्ठाग्रेण चन्द्रं स्पृशतीत्यादिरूपमिन्द्रियाणां सामर्थ्यम् । प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेष्विच्छानभिघातः यथा भूमौ जलेष्विव निमज्जतीत्यादि । ईशित्वं सर्वेषां भूतभौतिकानां शरीरवत्संकल्पमात्रेण प्रेरणम् । वशित्वं भूतभौतिकानां गुणानां वश्यत्वम् । सत्यसंकल्पता च । यथा विषमप्यमृतत्वेन संकल्प्य भोजयज्जीवयतीत्यष्टावणिमादयः । सत्यसंकल्पोऽपि चन्द्रमसमादित्यं न करोति ईश्वरेच्छानुविधानात् ईश्वरसंकल्पविरुद्धसंकल्पाकरणात् । तथासति तत्प्रद्वेषेण सिद्धितश्च्यवेरन् । सूत्रेऽणिमादिपदेन प्राकाम्यातिरिक्तानां ग्रहणम् । तस्य तद्धर्मानभिघातपदेन ग्रहणात् । यथा विरोधकृताभिघाताभावः । यथा शिलामप्यनुप्रविशति जलं न क्लेदयति तं नाग्निर्दहति न वायुश्चालयति, अनावरणेऽप्याकाशे आवृतशरीरो भवति, सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ॥ ४४ ॥

प्रसिद्धत्वात्सिद्धिद्वयं व्याख्याय संपदं स्वयं विवृणोति—

**रूपलावण्य(बल)वज्रसंहननत्वानि
कायसंपत् ॥ ४५ ॥**

वज्रवद्दृढः संघातो यस्येति वज्रसंहननः । शेषं स्पष्टम् ॥ ४५ ॥

कायसंपदमाह—रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् । वज्रचट्टावयवसंघातः ॥ ४५ ॥

प्राज्ञसंयमस्य सिद्धय उक्ताः । ग्रहणसंयमस्य सिद्धीराह द्वाभ्याम् ।

**ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमा-
दिन्द्रियजयः ॥ ४६ ॥**

ग्रहणादिपञ्चसु इन्द्रियरूपेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्ताद्रूपैरिन्द्रियाणि जितानि भवन्तीत्यर्थः । ग्रहणं निश्चयाभिमानसंकल्पदर्शनश्रवणाद्या वृत्तयः । स्वरूपं तु एकादशेन्द्रियाणि । अस्मिता च तदुपलक्षितौ बुद्ध्यहङ्कारौ । अन्वयार्थवत्त्वे च भूतजयसूत्रे व्याख्याते । अस्मितादीनां चेन्द्रियरूपवत्त्वमिन्द्रियकारणतया तदनुगमादिति ॥ ४६ ॥

ग्रहणसंयमसिद्धिमाह—ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः । ग्रहणं निश्चयाभिमानसंकल्पदर्शनश्रवणाद्या वृत्तयः । स्वरूपमेकादशेन्द्र-

याणि । अस्मितापदेनात्र तदुपलक्षितौ बुद्ध्यहंकारौ । अन्वयार्थवत्त्वे च भूतजयसूत्रे व्याख्याते । एषु पञ्चसु संयमदार्ढ्यात्तत्तद्रूपेन्द्रियजय इत्यर्थः । अस्मितादीनामिन्द्रियत्वं चेन्द्रियकारणतया तत्कार्यतया च तदनुगमात् ॥ ४६ ॥

इन्द्रियजयात्सिद्धीराह—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४७ ॥

मनोजवित्वं मनोवच्छीघ्रतरा देहगतिः । विकरणभाव इन्द्रियाणां विकीर्णता । स्थूलदेहनैरपेक्ष्येण सर्वत्र वृत्तिलाभ इति यावत् । प्रधानजयश्च प्रकृतेः स्वेच्छया परिणामनम् । एतास्तिष्ठ इन्द्रियजयाद्भवन्तीत्यर्थः । एताश्च सिद्धयो मधुप्रतीका इति मधुमत्य इति चोच्यन्ते ॥ ४७ ॥

इन्द्रियजयात्सिद्धीराह—मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च । मनोजवित्वं मनोवच्छीघ्रतरा देहगतिः विकरणभावः विकीर्णतेन्द्रियाणां स्थूलदेहनैरपेक्ष्येण सर्वत्र वृत्तिलाभ इति यावत् । प्रधानजयः प्रकृतेः स्वेच्छया परिणामनमेतास्तिष्ठः सिद्धय इन्द्रियजयाद्भवन्तीत्यर्थः । एता एव मधुप्रतीका इति मधुमत्य इति चोच्यन्ते ॥ ४७ ॥

ग्राह्यग्रहणयोः सिद्धिरुक्ता । ग्रहीतृग्रहणसंयमस्य सिद्धिमाह द्वाभ्याम्—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४८ ॥

मात्रशब्देन संयमरूपता ख्यातेर्लभ्यते । तथाच सत्त्वपुरुषान्यतासंयमस्य साक्षात्कारपर्यन्तस्य सर्वेत्यादिसिद्धिद्वयं फलमिति शेषः । सत्त्वपुरुषान्यता च बुद्धिपुरुषयोर्विवेकः । सर्वभावाधिष्ठातृत्वं प्रकृतिपुरुषविकाराणां स्वेच्छया प्रेरयितृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च विशिष्य सर्वार्थसाक्षात्करणम् । इदं च सिद्धिद्वयं विशोकेत्युच्यते ॥ ४८ ॥

अथ ग्रहीतृसंयमसिद्धिमाह—सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च । तन्मात्रस्य तन्मात्रप्रतिष्ठस्य संयमस्य तत्साक्षात्कारपर्यन्तस्य फलद्वयमित्यर्थः । सर्वभावाधिष्ठातृत्वमीश्वरवत् प्रकृतिपुरुषविकाराणां स्वेच्छया प्रेरयितृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च विशिष्य सर्वार्थसाक्षात्करणं च । इदं सिद्धिद्वयं विशोकेत्युच्यते ॥ ४८ ॥

सर्वसिद्धिर्मूर्धन्यं विवेकसंयमस्य परवैराग्यद्वारकं मोक्षाख्यं सिद्ध्यन्तरमाह—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ४९ ॥

अपिशब्दः कैवल्यमित्यन्तेनान्वेति । तथाच । विवेकख्यातिनिष्ठात एव विवेकख्यातौ तत्सिद्धौ च वैराग्ये सति असंप्रज्ञातयोगनिष्पत्त्या दुःखदोषस्य बीजानामखिलवासनाकर्मणामुच्छेदे पुरुषस्य (कैवल्यम्) आत्यन्तिकः प्रकृतिवि-

योगो भवतीत्यर्थः । यस्य चासंप्रज्ञातानिष्पत्त्या प्रारब्धं कर्म नोच्छिद्यते तस्यापि प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरमुत्पद्यमानमोक्ष एव यथोक्तसंयमसिद्धिरिति ॥ ४९ ॥

विवेकसाक्षात्कारस्यैव परवैराग्यद्वारा मोक्षाख्यां मुख्यसिद्धिमाह—तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् । अपिशब्दः कैवल्यमित्यनेनान्वेति । एवं च विवेकख्यातिनिष्ठात एव विवेकख्यातितः क्लेशकर्मरूपाणां संसारबीजानामखिलवासनानामात्मज्ञानेन निःशेषतः क्षये दग्धबीजकल्पत्वे सति तत्रापि वैराग्यात् पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिकः प्रकृतिवियोग इत्यर्थः । यस्याप्यसंप्रज्ञातानिष्पत्त्या प्रारब्धकर्म नोच्छिद्यते तस्यापि प्रारब्धभोगानन्तरमुत्पद्यमानमोक्ष एव संयमसिद्धिरिति बोध्यम् ॥ ४९ ॥

उक्तस्यात्मसंयमिनः कैवल्याख्यसिद्ध्यर्थं न केवलं सर्वज्ञादिसिद्धिषु वैराग्यमेवापेक्ष्यते, अपित्वन्यदपीत्याह—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्ययाकरणं पुनर- निष्टप्रसङ्गात् ॥ ५० ॥

स्थानिनः स्वर्गादिलोकाधिकारिणो देवा इन्द्रादयस्तेषां स्वर्गादिलोकनयनाय योगिनो निमन्त्रणे सति तत्र संगस्ययोरकरणं कैवल्योपायः । अन्यथा-संगस्ययाभ्यां पुनःसंसारहेतुत्वमिति ॥ ५० ॥

एवं च सार्वज्ञ्यादिरागोऽपि कैवल्यसिद्ध्यन्तराय इति दर्शितं तदेवाह—स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्ययाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् । स्थानिनः स्वर्गादिलोकाधिकारिण इन्द्रादयः तेषां स्वर्गादिलोकनयनाय तत्रत्यभोगाय च निमन्त्रणे सति तत्र सङ्गस्ययोरकरणं कैवल्योपायः । अन्यथा सङ्गेन तथैव स्मयेन पुनः संसाररूपानिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ५० ॥

सर्वज्ञेऽपि वैराग्यान्मोक्ष इत्युक्तम् । यदि च तत्र रागो न गच्छति वासना-प्रावल्यादिदोषात्तद्गतिवृत्त्ये पूर्ववत्सर्वज्ञतासाधकं संयमान्तरमप्याह—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५१ ॥

पूर्वोक्तात्सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययरूपाद्विवेकाज्जायमानं सर्वज्ञं विवेकजं ज्ञानं सर्ववस्तूनामशेषविशेषैर्विविच्य साक्षात्करणमिति यावत् । क्षणतत्क्रमयोः संयमादपि साक्षात्कारपर्यन्ताद्भवतीत्यर्थः । प्रतिक्षणं सर्वं वस्तु परिणमते । अतः क्षणेषु तत्तत्क्रमेषु संयमेन साक्षात्कृतेषु सत्सु सर्ववस्तूनां परिणामतत्तत्क्रमयोरपि ज्ञानात्सर्ववस्तूनां विवेकजज्ञानं भवतीत्याशयः ॥ ५१ ॥

विवेकजज्ञाने उपायान्तरमाह—क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् । सर्वतोऽपकृष्टः कालः क्षणः । पूर्वापरभागविकलकालकलेति यावत् । परमाणुश्चलितो यावता समयेन स्वपरिमितं देशमतिक्रामति स समयः । तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः । यत्तु पूर्वस्मादुत्तरस्य भाविनो यदानन्तर्यं स क्रम इति, तत्रानन्तर्यमनन्तर इति

बुद्धिविषयत्वमेव । नलानन्तर्यमेव बाह्यं किञ्चिद्वस्तु तत्रास्ति । अतोऽयं विकल्पात्मा व्यवहारः । एवं क्षणसमाहारो सुहृताहोरात्रादय इत्यप्येवमेव । अयुगपद्भावितात् क्षणानां समाहारस्य वास्तवस्यासंभवात् । किंतु बुद्धिमात्रविषयः समाहारः । तदुक्तं भाष्ये 'बुद्धिसमाहारो सुहृताहोरात्रादयः । स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शाब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां वस्तुभूत इवावभासते । क्षणस्तु वस्तुपतितः' इति । नच क्षणोप्युत्तरसंयोगावच्छिन्ना क्रियास्तु त्रयाणामपि स्थिरत्वेन क्षणव्यवहारानालम्बनत्वात् । यदि विशिष्टमतिरिक्तमित्युच्यते तर्हि सिद्धं क्षणेनार्तिरिक्तेन । तयोः क्षणतत्क्रमयोः साक्षात्कारपर्यन्तारसंयमाद्विवेकजं ज्ञानम् । सर्ववस्तूनामशेषविशेषैर्विविच्य साक्षात्करणरूपं सार्वज्ञ्यं भवतीत्यर्थः । प्रतिक्षणं हि सर्वं वस्तु परिणमतेऽतः क्षणतत्क्रमयोः साक्षात्कारः सर्ववस्तूनां सर्वपरिणामतत्तत्क्रमयोरपि ज्ञानात्सर्वतो विवेकेन पुरुषप्रत्ययो भवतीत्याशयः ॥ ५१ ॥

विवेकज्ञानस्यैकमुदाहरणमाह—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययो- स्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५२ ॥

तुल्ययोस्तुल्यजातिलक्षणदेशयोर्वस्तुनोर्जात्यादिभिरन्यतानवच्छेदाद्भेदावधारणासंभवात् ततः क्षणतत्क्रमसंयमादेव प्रतिपत्तिर्भेदसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । भेदो हि क्वचिज्जात्या गृह्यते । यथा गोमहिषयोः । क्वचिच्च लक्षणैरवस्थादिभिर्यथा बालवृद्धयोः । क्वचिद्देशेन । यथा पूर्वोत्तरस्थितवस्तुनोः । यदा तु पूर्वदेशस्थितमामलकं विषयान्तरासक्तस्य योगिन उत्तरदेशे केनाप्यानीयते उत्तरदेशस्थं च समानमामलकान्तरं पूर्वदेशे नीयते तदा तयोरामलकयोः सजातीयत्वात्सलक्षणत्वात्कालभेदेन समानदेशत्वाच्च जात्यादित्रयेण भेदग्रहो न संभवेति । पूर्वमिदं मत्पूर्वदेशस्थमामलकमिदं चोत्तरदेशस्थमित्येवंरूपम् । अत आमलकयोस्तत्तद्देशसंबन्धक्षणां संयमेन साक्षात्करणात्तद्भेदेनैवामलकयोर्भेदसिद्धिरिति । एतच्च क्षणसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तेरुदाहरणम् । क्षणक्रमसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तेस्तु यथा द्वित्रक्षणमात्रेण ज्येष्ठकनिष्ठयोज्येष्ठकनिष्ठाविवेकज्ञानं क्षणक्रमसाक्षात्कारं विना न भवतीत्यतः क्षणक्रमसंयमस्तत्र कारणमिति ॥ ५२ ॥

तादृशज्ञानस्यैकमुदाहरणमाह—जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः । तुल्ययोः तुल्यजातिलक्षणदेशयोः वस्तुनोर्जात्यादिभिरन्यताया भेदस्यानवच्छेदादवधारणासंभवात् क्षणतत्क्रमसंयमादेव प्रतिपत्तिर्भेदसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । भेदो हि क्वचिज्जात्या गृह्यते, यथा गोमहिषयोः । क्वचिच्च लक्षणैरवस्थादिभिः यथा बालवृद्धयोः यथा वा कालाक्षरत्ताक्षयोः । क्वचिद्देशेन, यथा पूर्वोत्तरस्थितामलकयोः । यदा तु पूर्वमामलकं विषयान्तरासक्तस्य योगिन उत्तरदेशे केनचिन्नीयते उत्तरदेशस्थं च पूर्वदेशे तदा तयोः साजात्यात्सलक्षणत्वा-

त्कालभेदेन समानदेशत्वाच्च जाल्यादित्रयेण भेदग्रहो न संभवति । पूर्वं सत्पूर्वदे-
शस्थमामलकमिदमिदं चोत्तरदेशस्थमित्येवंरूपः । अत आमलकयोस्तद्देशसंबन्धक्ष-
णानां संयमेन साक्षात्करणात् तद्भेदेनैवोक्तभेदग्रहसिद्धिरामलकयोः, एवं परमाणू-
नामपि तत्तद्देशसंबन्धक्षणसाक्षात्कारेणैव परस्परं भेदज्ञानम् । इदमुपलक्षणम् ।
क्वचिद्व्यवधिरपि भेदकारणम्, यथा कुशपुष्करद्वीपयोः । क्वचित्संस्थानं, यथा
विशुद्धावयवकुत्सितावयवयोः । मुक्तात्मनामपि भूतचरमदेहसंबन्धेन योगिनो
भेदं पश्यन्ति । एतेन नित्यद्रव्यवृत्तयोऽनन्ता विशेषास्तेषां परस्परं भेदका इत्यपा-
स्तम् । तेषां परस्परं भेदकस्यान्वेषणेऽनवस्थापत्तेः । स्वत एव भेदे नित्यद्रव्याणा-
मेव स्वतः सोऽस्तु किं तेन । भेदकस्योपपादितत्वाच्च । प्रधानस्योक्तभेदकाभावान्न
पृथक्त्वमिति वार्षगण्यः । एतत्क्षणसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तेरुदाहरणम् । तत्कमसंयमा-
द्विवेकप्रतिपत्तेस्तु यथा, द्वित्रक्षणमात्रेण ज्येष्ठकनिष्ठयोज्येष्ठकनिष्ठताविवेकज्ञानं
क्षणक्रमसाक्षात्कारं विना नेति क्षणक्रमसंयमस्तत्र कारणमिति दिक् ॥ ५२ ॥

विवेकज्ञानस्यैकमुदाहरणं प्रदर्शितम् । इदानीं सहेतुकं विवेकज्ञानस्य
मोक्षोपयोगमाह—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयक्रमं चेति विवेकज्ञं ज्ञानम् ॥ ५३ ॥

इतिशब्दो हेत्वर्थः । यतो विवेकज्ञं ज्ञानं सर्वविषयादिरूपम्, अतः सर्वत्र-
वैराग्येण दोषदर्शनादिना च द्वारेण संसारतारकं भवतीत्यर्थः । सर्वेत्यादिविशे-
षणत्रयस्य सर्ववस्तूनामशेषविशेषत एका विषयत्वमित्यर्थः । विवेकज्ञानस्येदं
लक्षणमभिप्रेतम् । तेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिजन्यसर्वज्ञताया अपि संग्रहात्त-
त्संयमसूत्रे सापि विवेकज्ञानशब्देन भाष्यकारैरुक्तेति ॥ ५३ ॥

इदानीं सहेतुकविवेकज्ञानस्य मोक्षोपयोगमाह—तारकं सर्वविषयं सर्व-
थाविषयक्रमं चेति विवेकज्ञं ज्ञानम् । इतिर्हेतौ । यतो विवेकज्ञं ज्ञानं सर्वविष-
यादिरूपमतः सर्वत्र दोषदर्शनमूलकवैराग्यद्वारा संसारतारकं भवतीत्यर्थः । सर्वेत्या-
दिविशेषणत्रयस्य सर्ववस्तूनां सर्वथाशेषविशेषतः अक्रममेकक्षणोपाखंडं सर्वमेकदा
विषय इत्यर्थः । विवेकज्ञानस्येदं लक्षणमप्यभिप्रेतम् ॥ ५३ ॥

तदेवमतिविस्तरेण संयमसिद्धयोऽतीतानागतज्ञानाद्या विवेकज्ञानान्ता ज्ञान-
क्रियैश्वर्यरूपाः प्रदर्शिताः । तत्र किमेतासां सिद्धीनामुत्तरमेव मोक्ष आहोस्वि-
देतद्व्यतिरेकेणापीति जिज्ञासायामाह—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५४ ॥

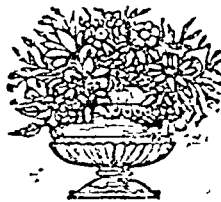
शुद्धिसत्त्वस्य पुरुषेण सह समाना वक्ष्यमाणरूपा शुद्धिर्यदा भवति तदैव
मोक्षो भवति । न तत्र सिद्ध्याद्यपेक्षेत्यर्थः । निरभिमानत्वं पुरुषस्यात्र शुद्धिर्भा-
ष्यकृतोक्ता । तथाच यथा साक्षी निरभिमान एवं चेच्चित्तं निरभिमानं भवति
विवेकनिष्ठया तदा प्राससिद्धेर्वाऽप्राससिद्धेर्वाऽवश्यमेव मोक्षो भवति । निश्च-

यार्थाद्यपेक्षेति(?) । नन्वष्टाङ्गयोगेऽभ्यस्यमाने सिद्धिरवश्यं भविष्यत्येवेति चेन्न ।
सिद्धिवैराग्ये सिद्धिप्रतिबन्धकपापे च सति सिद्ध्यनुत्पादसंभवादिति ॥ ५४ ॥

इति श्रीभावागणेशभट्टकृतायां पातञ्जलवृत्तौ योगदीपिकायां
विभूतिपादस्तृतीयः ॥

ननु किमुक्तं सर्वसिद्ध्युत्तरमेव मोक्ष उत तद्व्यतिरेकेणापीति शङ्कायामाह—
सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् । बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषेण सह शुद्धिसाम्य-
मेव भवति तदा कैवल्यमित्यर्थः । पुरुषस्योपचरिताभिमानत्यागेनोपचरितभोगा-
भावः शुद्धिः । एवं चित्तमपि यदा निरभिमानं भवति तदा तत्सत्त्वपुरुषान्यता-
ख्यातिमात्राधिकारं ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या दग्धक्लेशबीजं भवति तदा तत्पुरुषेण
शुद्धिसाम्यामिपन्नं भवति तदा प्राप्तसिद्धेरप्राप्तसिद्धेर्वा अवश्यं मोक्षो भवतीत्यर्थः ।
ननु योगमभ्यस्यतः सिद्धिरवश्यं भविष्यत्येवेति चेन्न सिद्धिं प्रति वैराग्यस्य प्रतिब-
न्धकत्वेन तदनुत्पादात् । तत्प्रतिबन्धकपापात्तदनुत्पत्तिरित्यपि कश्चित् ॥ ५४ ॥

इति श्रीपातञ्जलवृत्तौ तृतीयः पादः ।



चतुर्थः कैवल्यपादः ।

हानोपायं तद्व्यूहत्रयं चातिविस्तरतः पादत्रयेणोक्तम् । हानं तु स्वरूपतः संक्षेपेणोक्तम् । इदानीं हानव्यूहस्याशेषविशेषप्रतिपादनाय चतुर्थः पाद आरभ्यते । तत्रादौ कैवल्यार्हं चित्तं निर्धारयितुमितरसिद्ध्यपेक्षया यथोक्तसमाधिसिद्धेरुत्कर्षं च प्रतिपादयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्ध्यः ॥ १ ॥

देवादीनामणिमादिसिद्ध्यो जन्ममात्रजा इत्येवं पञ्चप्रकाराः सिद्ध्यो भवन्तीत्यर्थः । पञ्चप्रकारसिद्धिसाधारण्यलाभार्थं पूर्वपादप्रतिपादिता अस्मिन्नेव प्रसंगे कियद्भिः सिद्धिप्रकारसूत्रैः प्रतिपाद्यन्ते ॥ १ ॥

इतरसिद्ध्यपेक्षया समाधिसिद्धेरुत्कर्षं प्रतिपादयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह—
जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्ध्यः । देवादीनामणिमादिसिद्ध्यो जन्ममात्रजाः । असुरभवनेषु रसायनजास्ता ओषधिजाः । यथा मनुष्यः कुतश्चिन्निमित्तादसुरभवनं प्राप्तस्तत्कन्यादत्तरसायनाद्युपयुज्याजरामरत्वं प्राप्नोति इहैव वा कश्चित्तदुपयोगेन । मन्त्रजा आकाशगमनाणिमादिलब्धिः । तपसा संकल्पसिद्धिः । समाधिजास्तु पूर्वं व्याख्याताः ॥ १ ॥

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

देहेन्द्रियकारणसात्विकाद्यवयवोपचयान्नवति । यथा नन्दीश्वरस्य ब्राह्मण-देहेन्द्रिययोर्देवसंबन्धिदेहेन्द्रियरूपता दैवप्रकृत्यनुप्रवेशादित्यर्थः । जात्यन्तरपदं च महिमाद्यखिलसिद्ध्युपलक्षणं प्रकृत्यापूरश्चापगमस्याप्युपलक्षकः । तेनाणिमादिसिद्धिप्रकारोऽप्युक्त इति ॥ २ ॥

ननु यदा मनुष्यादिशरीरेणैव देवभावं प्राप्नोति सिद्ध्यति यदा वाणिमादिसिद्ध्यः प्रादुर्भवन्ति तदा किं संकल्पयोगजधर्माभ्यामतिरिक्तं कारणमपेक्षते न वेति संशये सत्याह—जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् । मनुष्यादिशरीरस्य देवादिजात्यन्तररूपः परिणामः सत्वादिविशेषरूपाणां देवादिशरीरारम्भयोग्यानामा-पूरणादेव भवति । तत्र च पूरणेऽधर्मादिप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा योगिसंकल्पयोगजध-र्मादिकं निमित्तमात्रम् । जात्यन्तरपदं च महिमाद्युपलक्षकमपि । प्रकृत्यापूरोऽपग-मस्याप्युपलक्षकः । तेनाणिमादिसिद्धिप्रकारोऽप्युक्तः । अत एव वामनादेस्तदापूर एव शरीरवृद्धिरगस्त्यपीयमानसमुद्रस्य च तदपसरणादेवाल्पत्वमुपपन्नम् । कायव्यू-हादिकं तु देहान्तरादिप्रकृतीनां पृथगेवारम्भकसंयोगादिति बोध्यम् । एवं हिरण्य-गर्भादीनां जगत्सृष्ट्याद्यपि प्रकृत्यापूरादिति बोध्यम् । प्रकृत्यापूरणमत्र जीवान्तराणां स्वस्वोपाधिसंयोगस्याप्युपलक्षणं येन योगी जीवान्तरसंयोगेन गजतुरगादीनि निर्मा-यैश्वर्यं भुङ्क्ते । तत्र समाधिसिद्धावयवं विशेषः, यत्तत्संस्कृतमेव चित्तमात्मसाक्षा-त्कारद्वारा मोक्षहेतुर्नान्यसिद्धिसंस्कृतमिति । प्रह्लादादीनां भक्तिजा सिद्धिस्तपः-

सिद्धिमध्य एव प्रविष्टा 'अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते' इति स्मृतेस्तपो-
न्तराङ्गकिरधिकेति बोध्यम् ॥ २ ॥

ननु योगजादिधर्मैर्योगिसंकल्पैश्च बलात्प्रकृतय आकृष्यन्त इति प्रकृति-
स्वातन्त्र्यसिद्धान्तक्षतिः । ततश्चेश्वरसंकल्पकृती विना सर्गादौ प्रकृतिप्रवृत्त्यनुपपत्त्या
ईश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्याद्यापत्तिस्तत्राह —

**निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु
ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥**

धर्मादिरूपं निमित्तकारणं प्रकृतीनां महदादिकारणानां प्रयोजकं प्रवर्तकं न
भवति । स्वत एव प्रवृत्तिस्वाभाव्यात् । किंतु ततो निमित्तकारणाद्वरणभङ्गः
प्रवृत्तिविशेषप्रतिबन्धकाधर्मादिनिवृत्तिमात्रं भवति । क्षेत्रिकवत् । यथा कृषी-
वलो जलपूर्णात्क्षेत्राज्जलं क्षेत्रान्तरे निनीपुरालवालभङ्गमात्रं करोति जलं तु
गतिस्वाभाव्यात्स्वयमेव गच्छति तद्वदित्यर्थः । अचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव
प्रवर्तते इति नियमस्वस्वाभिर्नेप्यते, परमेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यापत्तेरिति
भावः ॥ ३ ॥

ननु योगजधर्मैर्योगिसंकल्पैश्च बलात्प्रकृत्याकर्षणे प्रकृतिस्वातन्त्र्यसिद्धान्तहानिरत
आह—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।

धर्मादिरूपं निमित्तकारणं प्रकृतीनां महदादिकारणानां प्रयोजकं प्रवर्तकं न भवति
स्वत एव प्रवृत्तिस्वाभाव्यात् तेषामपि प्रकृतिर्कार्यत्वाच्च । ततो निमित्तकारणाद्वर-
णस्य तत्तत्प्रतिबन्धकाधर्मादिर्भङ्गो निवृत्तिमात्रं भवति । ततः प्रकृतयः स्वयमेव
तं तं विकारमारभन्ते क्षेत्रिकवत् । यथा कृषीवलो जलपूर्णात् क्षेत्राज्जलं क्षेत्रान्तरे
निनीपुरालवालभङ्गमात्रं करोति जलं तु गतिस्वाभाव्यात्स्वयमेव गच्छति तद्वत् ।
पुरुषार्थोद्देशेनेश्वरस्तु प्रवर्तकः सोऽपि तदुद्देशमात्रेणैव, तथोद्देश्यतामात्रेण च पुरु-
षार्थः प्रवर्तक इत्युच्यते । वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गस्तु प्रथमपादे निवारितः । अचेतनं
चेतनाधिष्ठितमेव प्रवर्तते इति नियमस्तु नेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यापत्तेरिति केचित् ।
नच पुरुषभोगोद्देश्या प्रवृत्तिर्जडायाः प्रकृतेः कथं ? पुरुषभोगो मया संपाद्य इत्यध्य-
वसायो हि तदुद्देश्यता, जडायाश्च तदनुपपत्तिः सत्त्वे जडत्वव्याघात इति वाच्यम् ।
अनुलोमप्रतिलोमलक्षणपरिणामद्वये सहजं शक्तिद्वयमस्ति प्रकृतेस्तदेव पुरुषार्थक-
र्तव्यतोच्यते । भोगसमाप्तौ च तस्य क्षये न पुनः सा प्रवर्तते । तस्य च शक्तिद्वयस्य
विवेकसाक्षात्कारेण विदेहकैवल्यमेव नाश इति भोजराजः ॥ ३ ॥

कायव्यूहदशायां किमेकमेव चित्तमुतानेकमपि भवतीति संशये निर्णयसूत्रे—

निर्माणचित्तान्यसितामात्रात् ॥ ४ ॥

सिद्धौ संकल्पेन निर्मितानि चित्तानि निर्माणचित्तान्युच्यन्ते । तानि बहूनि
निर्माणदेहसमसंख्यान्यपि भवन्ति । तेषां कारणमाह असितामात्रादिति ।
मनःकारणादहङ्कारादित्यर्थः ॥ ४ ॥

यदा योगी कायव्यूहं करोति तदा तावच्छरीरसंबद्धानि चित्तानि किं नाना उतैकमिति संशय आह—निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् । अस्मितामात्रम-
हंकारस्तस्मात्सिद्धेन संकल्पेन निर्मितानि चित्तानि निर्माणचित्तानि तानि देहसम-
ख्यानि भवन्ति । अहंकारकारणकानीत्यर्थः । अन्यथैकचित्तेन विरुद्धानां भोगसमा-
ध्यादीनां नानादेहेष्वेकदा संभवो न स्यात् ॥ ४ ॥

अनेकनिर्माणे विशेषमाह—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

तेषामनेकेषां निर्माणचित्तानां प्रवृत्तिभेदे प्रतिनियतव्यापारे प्रयोजक-
मेकं निर्मातृचित्तमेव भवति । निर्मातृचित्तसंकल्पेनैव तेषामखिलव्यापार
इत्यर्थः ॥ ५ ॥

तत्र विशेषमाह—प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् । तेषामने-
केषां निर्माणचित्तानां प्रवृत्तिभेदे प्रतिनियतव्यापारे प्रयोजकमेकं चित्तं निर्मिमीते
महाराज इव दशाधिकरणमेकं तादृशदशाधिकरणमपरम् । ततस्तेषां प्रवृत्तिभेद इति
भाष्यसंमतः पन्थाः । केचित्तु निर्मातृचित्तमेव तेषां सर्वेषां प्रवृत्तिकारणं निर्मातृचि-
त्तसंकल्पेनैव तेषामखिलव्यापारादित्याहुः ॥ ५ ॥

तदेवमुक्तेषु पञ्चसु सिद्धचित्तेषु मध्ये मोक्षयोग्यं चित्तमवधारयति—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

तेषु चित्तेषु मध्ये ध्यानजं ध्यानेन समाधिना संस्कृतमेव चित्तमनाशयं
निर्वासनं भवति । न मन्त्रादिसंस्कृतमित्यर्थः । समाधिनाैव योगद्वयद्वाराखिल-
लवासनोन्मूलनसंभवादिति ॥ ६ ॥

तत्र पञ्चसु सिद्धिषु मोक्षयोग्यं चित्तमवधारयति—तत्र ध्यानजमनाशयम् ।
तेषु सिद्धचित्तेषु मध्ये ध्यानजं ध्यानेन समाधिना संस्कृतमेव चित्तमनाशयं निर्वा-
सनं भवति । न मन्त्रादिसंस्कृतमित्यर्थः । समाधिनाैव योगद्वयद्वाराखिलवासनोन्मूलन-
संभवात् ॥ ६ ॥

इतश्च ध्यानचित्तमेव मोक्षयोग्यमित्याह—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगिनः समाधिसिद्धस्य निष्पन्नयोगस्य क्षीणक्लेशस्य कायादिव्यापाररूपं
कर्माशुक्लाकृष्णं पुण्यपापाहेतुर्भवति । क्लेशमूलः कर्माशय इत्युक्तत्वात् । इत-
रेषां त्वयोगिनां जन्मादिसिद्धानामपि यथासंभवं कर्म त्रिविधं भवति । शुक्ल-
कृष्णयोः प्रत्येकसमुच्चयाभ्यामित्यर्थः । तत्राशुक्लाकृष्णं जीवन्मुक्तानां कर्म
पुण्यापुण्याहेतुत्वात् । शुक्लं निर्मलं कर्म अन्तर्यामजपादि हिंसादिदोषासंभिन्न-
त्वादित्यर्थः । कृष्णं मलिनं कर्म अपेयपानादि । शुक्लकृष्णं च मिश्रितं कर्म वहि-
र्यागयुद्धादि पशुहिंसादिपापसाङ्कर्यादिति ॥ ७ ॥

अतस्तदेव मोक्षयोग्यमित्याह—कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरे-
षाम् । योगिनः समाधिसिद्धस्य निष्पन्नयोगस्य क्षीणक्लेशस्य कायादिव्यापाररूपं
कर्माशुक्लाकृष्णं पुण्यपापाहेतुरित्युक्तं भवति क्लेशमूलः कर्माशय इत्युक्तेः । इतरे-
षामयोगिनां जन्मादिसिद्धानामपि त्रिविधं कर्म भवति । शुक्लं कृष्णं शुक्लकृष्णं
चेत्येवमित्यर्थः । तत्र शुक्लं कर्मान्तर्यागजपादि हिंसादिदोषासंनिहितत्वात् । कृष्णं
मलिनं कर्म (अपेयपानादि) शुक्लकृष्णं च वहिर्यागयुद्धादि स्वकर्म पशुहिंसादिपाप-
साङ्कर्यात् । वहिःसाधनसाध्यं सर्वमप्येवमेव । एवं संन्यासिनां क्वचिदपि वहिः-
साधनसाध्ये कर्मणि अप्रवृत्तानां कृष्णस्याभाव एव योगानुष्ठानसाध्यस्य फलस्येश्वरे
समर्पणाच्च शुक्लमपीत्यवधेयम् ॥ ७ ॥

ननु तिष्ठत्वयोगिनां कर्म । तथापि भोगवासनानभिव्यक्त्यादिना कदाचि-
न्मोक्षः स्यादिति किमर्थं नियमेन ध्यानजस्यानाशयचित्तस्यापेक्षेत्यत आह—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वा- सनानाम् ॥ ८ ॥

ततस्त्रिविधात्कर्मणो भोगवासनानामभिव्यक्तिर्भवति । अतः कर्मणि सति
वासनाभिव्यक्त्यभावो न घटते । नन्वेवं मानुष्यप्रापककर्मणापि पश्चादिभोग-
वासनाभिव्यक्त्या तृणपत्रादिभोजनादौ प्रवृत्त्यापत्तिस्तत्राह—तद्विपाकानुगुणा-
नामेवेति । स्वविपाकहेतुवासनानामेव कर्मतोऽभिव्यक्तिर्भवति न सर्वासा-
मित्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्वयोगिनां कर्मसत्त्वेऽपि भोगवासनानभिव्यक्त्या कदाचिन्मोक्षः स्यादेवेति
का ध्यानस्यापेक्षेत्यत आह—ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वास-
नानाम् । ततस्त्रिविधात्कर्मणो भोगवासनानामभिव्यक्तिर्भवत्येवेति न तेषां मोक्षः
संभवति । नन्वेवं मानुष्यप्रापककर्मणापि पश्चादिभोगवासनाभिव्यक्त्या तृणभोज-
नेऽपि प्रवृत्तिः स्यादत आह तद्विपाकानुगुणानामेवेति । स्वविपाकहेतुवासनानामेव
कर्मतोऽभिव्यक्तिर्न सर्वासामित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु यस्य कर्मणो विपाकानुगुणा वासना बहुजन्मादिव्यवहिता तस्य तदभि-
व्यञ्जकत्वं न घटते । संनिहितवासनां परित्यज्य व्यवहितवासनाभिव्यक्त्यनौचि-
त्यात्तत्राह—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसं- स्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

जात्यादिभिर्जन्मादिभिर्व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमव्यवहितवत्कार्य-
कारित्वं कल्प्यते । स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् । न हि जातमात्रस्य स्तन-
पानादीष्टसाधनतादि स्मृतिस्तत्समानाकारवासनां विनोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु यस्य कर्मणो विपाकानुगुणवासना बहुजन्मादिव्यवहितास्तस्य तदभि-

व्यञ्जकत्वं न घटते सन्निहितवासनां परित्यज्य व्यवहितवासनाया अमिव्यक्त्यनौ-
चित्यात् तत्राह—जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसं-
स्कारयोरेकरूपत्वात् । जातिर्जन्म । जन्मशतेन दूरदेशतया कल्पशतेन वा
व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमव्यवहितवत्कार्यकारित्वं कल्प्यते । तदमि-
व्यक्तिनिमित्तकर्मणस्ता उपादायैव स्वफलारम्भमभिमुखत्वात् । किंच स्मृतिसंस्का-
रयोरेकत्वात् । नहि जातमात्रस्य स्तनपानादीष्टसाधनतादिस्मृतिस्तत्समानाकारवासनां
विनोत्पद्यत इत्यर्थः । देशव्यवधानमवच्छेदकतया बोध्यम् ॥ ९ ॥

नन्वेवं सकलजन्मार्थमेव वासनाङ्गीकारेऽनवस्थापत्तिरित्याशङ्कां प्रामाणिक-
त्वेनापाकरोति—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

तासां वासनानां प्रवाहरूपेणानादित्वम् । कुतः । आशिषो नित्यत्वात् । मा
न भूवं भूयासमिति स्वविषयकप्रार्थनायाः जातमात्रस्यापि सर्वप्राणिनो नियत-
त्वादित्यर्थः । इयं हि भवनात्मा प्रार्थना मरणदुःखस्मृत्यैव युक्ता । न चेह
जन्मनि मरणदुःखमनुभूतम् । नापि जातमात्रेणानुमितं श्रुतं वा । तस्मात्पूर्व-
जन्मानुभवोत्था मरणदुःखवासनानुमीयत इति ॥ १० ॥

ननु सकलजन्मार्थं वासनाङ्गीकारेऽनवस्थापत्तिरत आह—तासामनादित्वं
चाशिषो नित्यत्वात् । तासां वासनानां प्रवाहरूपेणानादित्वम् कुतः । आशिषो-
नित्यत्वात् । मा न भूवं भूयासमिति स्वविषयकप्रार्थनाया जातमात्रस्यापि सर्वप्राणिनो
नियतत्वादित्यर्थः । इयं हि भवनात्मा प्रार्थना द्वेषानुषक्तमरणदुःखस्मृत्यैव । नचेह
जन्मनि मरणदुःखमनुभूतं नाप्यनुमितं श्रुतं वा, तस्मात्पूर्वजन्मानुभवोत्था मरण-
वासनानुमीयत इति । दृश्यते हि मातुरङ्गात्प्रस्खलन् कम्पमानो बालस्तदुरःसूत्र-
मतिगाढमालम्बमानः बालस्यायमीदृशः कम्पो भयजन्यः ईदृशकम्पत्वादस्मदादिः
कम्पवत् । तद्भयं च दुःखद्वेषस्मृतिनिमित्तकं भयत्वादस्मदादिभयवत् । अयं भय-
जनकः स्खलनादिरनेन दुःखजनकत्वेन ज्ञातः भयजनकत्वात् मद्भवत् । इयं स्मृतिः
पूर्वानुभवनिबन्धना स्मृतित्वात् मत्स्मृतिवत्, इत्यनुमानम् । एवं स्मितादिष्वनुमि-
तहर्षादयोऽपि प्राग्भववासनाहेतवः । एतेन स्वाभाविकमिदमित्यपास्तम् । अस्मदा-
दीनामपि भयस्य तथात्वापत्तेः । पद्मसंकोचविकासावपि न स्वाभाविकौ सूर्यकरसंप-
र्कस्य विकासं प्रति स्थितिस्थापकाख्यसंस्कारस्य संकोचं प्रति कारणत्वात् । तच्चित्तं
मनोरूपं नाणु दीर्घशङ्कुलीभक्षणादौ युगपज्ज्ञानपञ्चकोत्पत्तिदर्शनात् । नचाननुभू-
यमानकमस्य कल्पनायां प्रमाणमस्ति । तस्मात् घटप्रासाददीपकल्पसंकोचविकास-
शालि चित्तं शरीरपरिमाणं, देहप्रदेशवर्तिकार्यदर्शनेन । तद्वहिस्तत्सत्त्वे मानाभा-
वात् । मूपकहस्तिदेहयोस्त्वस्य संकोचविकासा उपपद्येते । एवं च आतिवाहिकश-
रीरसंगेन पूर्वदेहत्यागदेहान्तरसंयोगोपपत्त्या संसारोऽपि युक्तः । अतएवाङ्गुष्ठमात्रं
पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलदित्यप्युपपन्नमिति केचित् । तत्र । मध्यमपरिमाणत्वे
प्रलये नाशापत्तावदष्टाद्याधारतानुपपत्तेः । तस्मादहंकारस्य गगनमण्डलवत् व्यापि-

त्वेन तत्कार्यचेतसोऽपि विभुत्वमेव । अतएव भाष्ये उक्तं—‘वृत्तिरेवास्य विभुनः संकोचविकासशालिनीत्याचार्यः’ इति । एवं चानन्तवासनाधारत्वमुपपद्यते । पूर्व-सूत्रोक्तवासनानां देशव्यवधानं चोपपन्नम् । अत्र मिश्राः । अनाश्रयस्य देहान्तर-संचाराभावे कथमातिवाहिकमाश्रयेत् । तदर्थमपि देहान्तरकल्पनेऽनवस्था । नचास्य निष्कर्षोऽपि संभवति । अनिष्कर्षे चेतसाऽसंबन्धात् तस्याध्यक्षगोचरत्वाभावेन तत्र मानाभावश्च । उक्तागमोऽपि पुरुषस्य निष्कर्षमाह । नहि चित्तं सूक्ष्म-शरीरं वा पुरुषः । किंतु शक्तिरपरिणामिनी । नचास्या निष्कर्षो मुख्यः संभवतीति गौणो व्याख्येयः । एवं च चित्तेः चित्तस्य वा तत्र वृत्त्यभाव एव निष्कर्षः । गमनमपि देशान्तरावच्छेदेन वृत्तिलाभ एव । इन्द्रियाण्यप्यहंकारकार्यत्वात् चित्तसंबन्धान्येव । प्राणादयस्तु तस्यैव वृत्तिविशेषास्तत्संबन्धा एव । एतेन सप्तदशको गण इत्यादेरपि नानुपपत्तिः । एषामपि तत्तद्देशावच्छेदेन संबन्ध एव गमनम् । पाशवद्धनयनादिकं त्वर्थवाद इत्याहुः । तदुक्तं—‘चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् । द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने’ ॥ इति । उपपादितं चैतत्प्रागपि । वृत्तिस्त्वस्य धर्माधर्मादिनिमित्तकत्वात्संकोचविकासशालिनीति दिक् ॥ १० ॥

इदानीं मोक्षोपपत्तयेऽनाद्यसंख्यानामपि वासनानामुच्छेद उपपाद्यते—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे

तदभावः ॥ ११ ॥

अखिलवासनानां हेतुरविद्या । यं च पुरुषार्थमुद्दिश्य धर्माद्युत्पद्यते स एव वासनानामपि फलम्, कर्मवासनयोरन्योन्यसहकारित्वात् । वासनानामाश्रयस्तु मनः, आलम्बनं च वासनाभिव्यञ्जकं कामिनीदर्शनादि । सर्वासां वासनानामेतैर्हेत्वादिभिः संगृहीतत्वाद्भासत्वादेषामभावेऽत्यन्तोच्छेदे विदेहमुक्तिसमये तदभावस्तदविनाभूतानां वासनानामत्यन्तोच्छेदो भवतीत्यर्थः । तथाच वासनानामनादित्वेऽपि मोक्ष उपपन्न इति ॥ ११ ॥

अथ मोक्षोपपत्तयेऽनाद्यसंख्यानामपि वासनानामुच्छेद उपपाद्यते—**हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः** । हेतुरखिलवासनानां पञ्चपर्वविद्या । फलं तु यमुद्दिश्य धर्माधर्मादि वर्तमानावस्थं भवति स पुरुषार्थः । स एव वासनानामपि फलं कर्मवासनयोरन्योन्यसहकारित्वात् । आश्रयस्तु वासनानां मनः । आलम्बनं च तासां वासनाभिव्यञ्जकं कामिनीदर्शनादि । सर्वासां वासनानां एतैर्हेत्वादिभिः संगृहीतत्वाद्भासत्वात् एषामभावेऽत्यन्तोच्छेदे विदेहमुक्तिसमये तदभावस्तदविनाभूतवासनानामपि अत्यन्तोच्छेदो भवतीत्यर्थः । एवं च वासनानामनादित्वेऽपि मोक्ष उपपन्नः । नह्यनादित्वमनुच्छेदहेतुः । अनागतत्वे व्यभिचारात् । चैतन्यस्य तु विनाशकारणाभावाच्च नाशो नत्वनादित्वादिति भावः ॥ ११ ॥

तदेवं चित्तं मोक्षयोग्यं चित्तं तदितरचित्तस्य बन्धप्रकारो वासनोच्छेदसंभव-
श्रोक्तः । इतः परं मोक्षकारणविवेकज्ञानाख्यस्य सम्यग्ज्ञानस्य विषयो लक्षणा-
दिकं चातिविस्तरेण प्रतिपादनीयं विशेषदर्शन आत्मभावनाविवृत्तिरित्यन्तैः
सूत्रैः । ननु द्वितीयपाद एव तत्सर्वमुक्तमिति चेत्सत्यम् । तथापि तेषामेवार्थानां
तर्केणात्र परीक्षार्थमनुक्तपूरणार्थं च पुनरारम्भः । तत्रादौ विकाराणां स्वरूपं
परीक्ष्यते—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

अतीतमनागतं च विकारजातं तदानीमपि वर्तमानावस्थायामिव स्वरूपतो-
ऽस्ति । अभिव्यक्ततयैवासत्त्वात् । एतदेव वेदान्तसूत्रेणाप्युक्तम् । ‘असद्व्यपदे-
शादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्’ (२।१।१७) इति । अत्र युक्तिमाह ।
धर्माणामध्वभेदादिति । अनागतवर्तमानातीतरूपावस्थात्रयमध्वशब्देनोच्यते,
आसु कार्याणामनुक्षणं संचारात् । तत्र ते धर्माणां कार्याणामवस्थाभेदा अनुभू-
यमानानां कार्याणां स्वरूपतो नित्यत्वं विना नोपपद्यन्ते । नहि धर्मिण्यसत्यती-
तत्वादिधर्मः स्थातुमुत्सहते । अतः कार्यं नित्यमिति ॥ १२ ॥

नन्वसतः संभवाभावेन सतीनां द्रव्यत्वेन वासनानां कथमुच्छेदः सतो विना-
शाभावादत आह—अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ।
भविष्यदभिव्यक्तिक्रमनागतमनुभूताभिव्यक्तिक्रमतीतम् । एतदुभयावस्थायामपि
विकारजातं खव्यापारोपारूढत्वरूपवर्तमानावस्थायामिव स्वरूपतोऽस्ति अभिव्यक्तत-
यैवासत्त्वम् । तत्र हेतुमाह । धर्माणामध्वभेदात् । अनागतवर्तमानातीतरूपावस्था-
त्रयमध्वशब्दवाच्यमासु कार्याणामनुक्षणं संचारात् । तत्र ते धर्माणां कार्याणा-
मवस्थाभेदा अनुभूयमानाः कार्याणां स्वरूपतः सत्त्वमनुमापयन्ति । नहि धर्मिणि
असति अतीतत्वादिधर्मः स्थातुमुत्सहते । अभिव्यक्तिरपि सूक्ष्मरूपेण विद्यमानैव
तदभिव्यक्तितो नातिरिक्तेति नानवस्था ॥ १२ ॥

कार्यस्वरूपं परीक्ष्य सदसत्त्ववैधर्म्येण तद्विवेकतः कारणं परीक्ष्यते—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

ते कार्यरूपा धर्मा अभिव्यक्ता अनभिव्यक्ता वा भवन्तु सर्वे एव सर्वदैव
गुणात्मानस्तत्त्वतः सत्त्वादिगुणत्रयस्वरूपा भवन्ति । ‘वाचारम्भणं विकारो नाम-
धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इति श्रुतेः । ‘गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्’ इति भाष्यकारावदृतवाक्यादिभ्यश्चे-
त्यर्थः । अयं भावः । रूप्यते अवगम्यते अनेन रूपेणेति रूपमुच्यते । अतः
कार्यं कारणं चेति कार्यस्यैव रूपद्वयम् । तत्र कार्यरूपताद्यन्तयोर्न तिष्ठति
कार्यरूपेणानवगमात् । कारणरूपता तु कालत्रयेऽप्यव्यभिचारिणी । सर्वदैव
कारणरूपेणावगमात् । अतः कार्यरूपापेक्षया कारणरूपमेव पारमार्थिकं रूपं
कार्याणामिति । अत्र कार्यस्यात्यन्तमसत्त्वं न विवक्षितम् । पूर्वसूत्रे कार्यनित्यता-

वचनादिति । एतेन मायामात्रं जगदिति श्रुतिस्मृतिप्रवादोऽपि व्याख्यातः ।
मिथ्यारचनाहेतौ व्यामोहकशक्तावेव मायाशब्दप्रयोगादिति ॥ १३ ॥

अथ कार्याणां मूलकारणमाह—ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः । ते कार्यरूपा
धर्मा व्यक्ता अभिव्यक्ताः सूक्ष्माः अनभिव्यक्ता वा भवन्तु सर्वे सर्वदा गुणात्मानः
सत्त्वादिगुणत्रयरूपा भवन्ति । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य'मिति
श्रुतेः । 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति । यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव
सुतुच्छक'मिति वाक्याच्च । मायेव ननु माया सा हि झटिति नश्यति तद्वदिमे
विकाराः, प्रकृतिस्तु तद्वैधर्म्यात्परमार्थरूपेति तदर्थः ॥ नन्वेकस्मात्प्रधानात्कार्यं
कार्यवैचित्र्यमिति चेत्तदाहितानादिक्लेशवशानुगताद्वैचित्र्यादिति गृहाण । सर्वोऽपि
दृश्यपदार्थो गुणानां संस्थानभेदवान् परिणामः, वस्तुतो गुणरूप एव । एवंच
कार्यकारणात्मकं कार्यस्य रूपद्वयं कार्यरूपताद्यन्तयोर्नास्ति कारणरूपता तु सर्वदा ।
अतस्तत्कार्याणां पारमार्थिकं रूपम् । एतेन मायामात्रं जगदिति प्रवादोऽपि
व्याख्यातः । आद्यन्तयोरनुपलभ्यमानत्वेन मिथ्यारचनाहेतौ व्यामोहकशक्तावेव
मायापदप्रयोगादिति दिक् ॥ १३ ॥

ननु यदि सर्वे विकारास्तत्त्वतोऽनेकगुणमात्रास्तर्हि कथमेकं शब्दतन्मात्रमेकं
चक्षुरित्यादिलोकशास्त्रयोर्व्यवहार इति । तत्राह—

परिणामैकत्वाद्वास्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणामैकत्वाद्वास्तूनां तत्त्वमेकत्वम् । तथाच परमार्थतो नानात्वेऽपि व्याव-
हारिकपरिणामरूपेणैकत्वमित्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु सर्वेषामनेकगुणरूपत्वे कथमेकं शब्दतन्मात्रमेकं चक्षुरित्यादि व्यवहारोऽत-
आह—परिणामैकत्वाद्वास्तुतत्त्वम् । परिणामैकत्वाद्वास्तूनां तत्त्वमेकत्वं पर-
मार्थतो नानात्वमेव त्रिगुणात्मकत्वात् । परिणामैकत्वमेकजातीयपरिणाम इत्यर्थः ।
तेन तन्मात्रादीनां प्रत्येकमनेकव्यक्तिभिः कृतेऽपि न क्षतिः । तत्र सत्त्वप्राधान्येन
करणरूपः परिणामः । तमःप्राधान्येन विषयरूपः परिणामः । यत्तु विज्ञानवादी
दृश्योऽर्थो न विज्ञानाद्भिन्नस्तेन सहैवोपलम्भात् यद्य येनद् नियमतः सहोपलभ्यते
तत्तेनाभिन्नं यथैकस्माच्चन्द्राद्भिन्नश्चन्द्रः । तेन वेदनाच्च । यद्येन वेद्यते तत्ततो न मिद्यते
यथा ज्ञानं, एवमभेदे सिद्धे योऽयं भिन्नवत्प्रतिभासः स विकल्पज्ञानपरिकल्पितः स्वप्न-
वदिति प्रधानकल्पना व्यर्थेति वदन्ति तत्र, प्रत्यभिज्ञानविरोधापत्तेः ॥ १४ ॥

कार्यकारणे विवेकेन परीक्ष्येदानीं यद्वौद्धा आहुः—कार्यकारणरूपं सर्वम-
सत् चित्तमात्रकल्पितं स्वप्नवदिति तन्निषेधमुखेनैव चित्ततदर्थयोर्विवेकः परी-
क्ष्यते सूत्रैः—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

एकस्मिन्नेव विषये चित्तान्तरवियोगेन चित्तान्तरालम्बनतादर्शनात्तयोश्चित्ता-

र्थयोर्विभक्तः पन्थाः स्वरूपोन्नयनमार्गः । एकानेकत्वरूपविरुद्धधर्मद्वयमित्यर्थः । वस्तुसाम्यं तु प्रत्यभिज्ञासिद्धम् । क्षणिकविज्ञानमेव च परेषां चित्तमित्यतश्चित्तभेदेनैव विज्ञानभेदोऽर्थेषु सिद्ध इति न स्वप्नतुल्यत्वम् ॥ १५ ॥

किंच—वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः । वस्तुसाम्ये वस्तुवेकत्वे । चित्तमत्र ज्ञानं तद्वेदात्तयोर्वस्तुज्ञानयोर्विभक्तः पन्थाः स्वरूपभेदो-
न्नायको मार्ग इत्यर्थः । एकस्यैव घटस्य बहुज्ञानालम्बनत्वं दृश्यते । यथैकस्यामेव कान्तायां कान्तस्य सुखज्ञानं सपत्नीनां दुःखज्ञानं चैत्रस्य तामविन्दतो मूढज्ञानम् । प्रमातृणां परस्परप्रतिसंधानवशाच्च वस्तुभेदः [खायेति?] सादृश्यप्रत्ययाभावाच्च । अन्यज्ञानपरिकल्पितायामन्यस्य चित्तोपरागायोगाच्च । अतो नैकचित्तपरिकल्पिता नाप्यनेकचित्तपरिकल्पिता ज्ञानभेदेन भेदापत्तेः । एतेन सर्वं चित्तमात्रपरिक-
ल्पितमसत्, स्वप्नवदिति वादोऽपि परास्तः । अस्माकं तु त्रिगुणत्वादेकसुखादि-
भेदभिन्नविज्ञानहेतुत्वमुपपद्यते । धर्मादिकारणसापेक्षत्वान्न सर्वेषां सर्वरूपेण ज्ञानम् । धर्मापेक्षं सत्त्वं रजःसहितं सुखज्ञानं जनयति । अधर्मापेक्षं तमःसहितं रजो दुःख-
ज्ञानम् । बलवदधर्मापेक्षं रजःसहितं तमो मूढविज्ञानम् । विद्यापेक्षं विगलितरजस्त-
मस्क(स)त्वं माध्यस्थ्यज्ञानमिति ॥ १५ ॥

विज्ञानवादं निरस्य दृष्टिसृष्टिवादं निरस्यति—

**नचैकचित्ततन्त्रं वस्तु तत्प्रमाणकं तदा किं
स्यात् ॥ १६ ॥**

नाप्येकचित्ततन्त्रमेकविज्ञानसमनियतं वस्तु दृश्यपदार्थो यतस्तदा तर्हि तत्प्र-
माणकं तच्चित्तसिद्धं किं वस्तु स्यात् । किमपि न स्यात् । चित्तापायेऽपि स्वरूपे
नैव तिष्ठेत् । चित्तनाशकल्पने प्रमाणाभावात् । प्रत्युत प्रत्यभिज्ञया स्थैर्यस्यैव
सिद्धेरित्यर्थः ॥ १६ ॥

केचित्तु अस्त्वर्थो ज्ञानादतिरिक्तः परंतु ज्ञानेनैव भास्यत्वात् ज्ञानसमय एवास्ति
नान्यदा मानाभावात् । एवंच सुखादिवद्भोग्यत्वात् ज्ञानसहभूरेवार्थ इति वदन्ति
एष एव दृष्टिसृष्टिवादस्तं निरस्यति—नचैकचित्ततन्त्रं वस्तु तत्प्रमाणकं
तदा किं स्यात् । तत्प्रमाणकमपि विज्ञानप्रमाणकं तन्निर्भास्यमपि नैकविज्ञानस-
मनियतमिति च । तदा किं स्यादित्यस्य यदा यद्वस्तुग्राहिचित्तं व्यग्रतया तद्वस्तुनि
न वर्तते यदा च निरोधमापन्नमित्यादि तदा तद्वस्तु किं स्यात् न स्यादेवेत्यर्थः ।
ज्ञाननाशान्नष्टमेव स्यात् । एवंसति पुनस्तस्य ज्ञानविषयता न स्यात् । दृश्यते तु
ज्ञानविषयता, नच पुनरुत्पद्यते उत्पादकसामर्थ्याभावात् । नियतकारणान्वयव्यति-
रेकानुविधायि हि कार्यम् । नच ज्ञानकारणं तत्, उपभुज्यमानाशामोदकस्यापि रस-
वीर्यविपाकादिप्रसङ्गात् । ज्ञानेन सह स्वकारणैरुत्पत्त्यननुभवाच्च, प्रत्यभिज्ञायाः स्थैर्य-
सिद्धेश्च । तस्मात्स्वतन्त्रोर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं
प्रवर्तन्ते, तयोः संबन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

नन्वेवं चित्ततदर्थयोर्भिन्नत्वे कदाचिदेव कंचिदेव चित्तेन गृह्यत इत्यत्र किं नियामकमित्याकाङ्क्षायामाह—

तदुपरागापेक्षित्वाचित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

चित्तस्य कालभेदेन वस्तु ज्ञातमज्ञातं च भवति । कुतः । अर्थाकारताख्योप-
रोगरूपज्ञानसापेक्षत्वादर्थज्ञातत्वाज्ञातत्वयोरित्यर्थः । नचोपरागशब्दस्य संनि-
कर्ष एवार्थः कथं नेष्यत इति वाच्यम् । संनि.....संवन्धसापेक्षार्थज्ञानतया
वक्ष्यमाणस्य चित्तपुरुषवैयर्थ्यस्यानुपपत्तेश्चेति ॥ १७ ॥

ननु चित्ततदर्थयोर्भिन्नत्वे कदाचिदेव कंचिदेव चित्तेन गृह्यत इत्यत्र नियामक-
माह—तदुपरागापेक्षित्वाचित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् । तद् विषयस्तस्यो-
परागो नामाकारसमर्पणयोग्यस्तत्संवन्धस्तत्सापेक्षत्वाचित्तस्य विषयो ज्ञातश्चाज्ञातश्च
भवतीत्यर्थः । येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्येऽज्ञाताः । वृत्तौ
स्वाकारसमर्पणमेव विषयस्य ज्ञातत्वम् । इन्द्रियप्रणाडिकया विषयोपरक्तचित्तवृत्त्य-
विभागापन्ना चित्तिशक्तिरर्थमनुभवति नत्वर्थं किंचित्प्राकट्यादिकमाधत्ते । यद्यपि
सर्वगता चित्तिश्चित्तं चाहंकारिकमिन्द्रियं च तेनास्ति विषयस्य संवन्धः सर्वदा
तथापि यत्र शरीरे वृत्तिमचित्तादि तेनैव विषयाणां संवन्धः । तदुक्तं भाष्ये
'अयस्कान्तमणिकल्पा विषयाः' अयस्कल्पं चित्तममिसंवध्योपरञ्जयन्तीति मिश्राः ।
वस्तुतो ज्ञाताज्ञातरूपत्वाच्च परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

चित्तार्थयोर्भेदं परीक्ष्य चित्तपुरुषयोरपि भेदं परीक्षते—

**सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणा-
मित्वात् ॥ १८ ॥**

चित्तस्यार्थो ज्ञाताज्ञातरूप इत्युक्तम् । ये तु पुरुषार्थाश्चित्तवृत्तयस्ते सदा
ज्ञाता एव भवन्ति । अनेन वैधर्म्येण चित्तपुरुषयोर्भेद इति भावः । सदा
ज्ञातत्वे हेतुमाह तत्प्रभोरित्यादि । तत्प्रभोर्वृत्तिभोक्तुः पुरुषस्य पूर्वसूत्रोक्तोपरा-
गादिलक्षणाशेषपरिणामशून्यत्वात् । यदि सत्यपि विषये पुरुषः कदाचिदे-
वार्थाकारः स्यात् कदाचिन्नेत्येवं चित्तवत्परिणामी स्यात् तदैवं चित्तवत्सोऽपि
ज्ञाताज्ञातविषयकः स्यात् । नत्वेवम् । तस्मादपरिणामित्वाद्धेतोः सदा ज्ञातवि-
षयत्वम् । अविभागलक्षणप्रतिविम्बश्च संवन्धो न परिणामो नापि वृत्तौ सत्यां
तत्प्रतिविम्बे विलम्ब इत्यर्थः । यदि च वृत्तीनामज्ञातत्वं स्यात्तर्हि जानामि न
वेत्यादिसंशयापत्तिरिति ॥ १८ ॥

चित्तार्थयोर्भेदं परीक्ष्य चित्तपुरुषयोरपि भेदमाह—सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तय-
स्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् । चित्तस्यार्थो ज्ञाताज्ञातरूप इत्युक्तम् ।
ये तु पुरुषस्यार्थाश्चित्तवृत्तयस्ते सदा ज्ञाता एव भवन्ति । अनेन वैधर्म्येण चित्तपु-
रुषयोर्भेदः । यतस्तत्प्रभोर्वृत्तिभोक्तुः पुरुषस्य पूर्वसूत्रोक्तोपरागादिलक्षणाशेषपरिणा-
मशून्यत्वात् । यदि सत्यपि विषये पुरुषः कदाचिदेवार्थाकारः स्यात्तदा चित्तवत्प-

रिणामी स्यात् । एवं सोऽपि ज्ञाताज्ञातविषयः स्यात्, नत्वेवं तस्मादपरिणामित्वा-
द्धेतोः सदा ज्ञातविषयत्वम् । अविभागलक्षणप्रतिविम्बश्च संबन्धो न परिणामः ।
नापि वृत्तौ सत्यां तत्र विलम्बः अनादिवासनामूलत्वात् । अतएव जानामि नवा
इच्छामि नवेति न संशयः ॥ १८ ॥

ननु वृत्तय एव स्वप्रकाशाः कल्प्यन्ते... कृतं पुरुषेणेत्याशङ्क्य निराकरोति—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

तच्चित्तवृत्तिरूपं न स्वाभासं न स्वप्रकाशं भवति । आकाशं स्वप्रतिष्ठमिति-
वत् स्वगोचरप्रकाशं विनैव प्रकाशव्यवहारा(?) जानामीच्छामीत्यादिरूपैर्दृश्यतया-
नुभवादित्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु वृत्तय एव सन्तु स्वप्रकाशाः अभिवत् किं वृत्तिज्ञात्रा पुरुषेणेति वैनशि-
काशङ्कयामाह—न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् । तच्चित्तवृत्तिरूपं न स्वाभासं न
स्वप्रकाशं स्वगोचरप्रकाशं विना न प्रकाशव्यवहारक्षमम् । कुतः । दृश्यत्वात्
परिणामितया नीलादिवत् । अनुभवव्याप्यं हि दृश्यं, यच्चानुभवव्याप्यं न तत्स्वा-
भासं, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । नहि तदेव क्रियाकर्म कर्ता च । पुरुषस्तु नानुभव-
कर्म । अतो न तस्य स्वयंप्रकाशताविरोधः । अपराधीनप्रकाशता ह्यस्य स्वयं
प्रकाशता नानुभवकर्मतेति मिश्राः । यत्तु मामहं जानामीत्यादौ पुरुषस्यानुभवव्याप्य-
तानुभूयते सा त्वनाद्यविद्यावासनावशाच्चित्तप्रतिविम्बितस्यैवेति बोध्यम् । चित्ता-
विभक्तत्वेन गृहीतस्य वृत्त्यविभागेन गृहीतविषयेति तत्त्वम् । या सत्त्वगता चिच्छ-
क्तिस्तदभिव्यक्तिरेव प्रतिविम्बनम् । चिच्छक्तिद्वयं चात्र मते । एका नित्योदिता
अपराभिव्यङ्ग्या । इयमेवान्तरङ्गत्वात्पुरुषस्य भोग्येति भोजराजः । एवं शब्दा-
दिवज्जानामीच्छामीत्यादिरूपैर्दृश्यत्वेनानुभवान्न स्वाभासत्वमिति भावः । अभिरपि
ज्ञानादेव प्रकाशते इति दृष्टान्तासिद्धिः । किंचाम्रेः प्रकाशोऽपि किर्यारूप इति
तस्यापरेणैव कर्त्रा करणेन च भाव्यम् । किंच यथा स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशमित्यस्याप्र-
तिष्ठमित्येवार्थः एवं स्वाभासमित्यस्याग्राह्यमित्येवार्थः स्यात् । स चायुक्तः, स्वचि-
त्तव्यापाराग्रहणेऽमुकाय क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमित्याद्यभिलाषानापत्तेः । ते च स्वाश्रयेण
चित्तेन स्वविषयेण च सह प्रत्यात्ममनुभूयमानाः चित्तस्याग्राह्यतां विषटयन्तीति
बोध्यम् ॥ १९ ॥

नन्वेवं सति स्वज्ञेयत्वमेव स्वाभासत्वं वक्तव्यं तत्राह—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

यदा वृत्तिरूपयते न तदात्मानं ग्रहीतुं शक्नोति साक्षात्कारे विषयस्य हेतुत्वा-
दित्यर्थः । नचोत्पद्य द्वितीयक्षणे स्वं गृह्णीयादिति वाच्यम् । शब्दबुद्धिकर्मणां
विरम्यव्यापाराभावेन द्विरर्थग्राहकत्वासंभवात् ॥ २० ॥

नन्वेवं स्वज्ञेयत्वमेव स्वाभासत्वमत आह—एकसमये चोभयानवधार-
णम् । यदा वृत्तिरूपयते न तदात्मानं ग्रहीतुं शक्नोति साक्षात्कारे विषयस्य हेतु-

त्वादित्यर्थः । नचोत्पद्य द्वितीयक्षणे स्वं गृह्णाति । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभा-
वेन द्विरर्थग्राहकत्वासंभवात् । कर्तृकर्मविरोधश्चोक्त एव ॥ २० ॥

ननु तथापि वृत्त्यन्तरैर्वृत्तयो ग्राह्यास्तत्राह—

चित्तान्तरग्राह्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

यदि वृत्तिश्चित्तान्तरेण वृत्त्यन्तरेण ग्राह्या स्यात्तदा बुद्धिबुद्धेर्वृत्तिवृत्तीनाम-
तिप्रसङ्गोऽनवस्था । तथा स्मृतिसंकरः । अयं घट इति वृत्तिदशायां घटतज्ज्ञान-
ज्ञानाद्यनन्तवृत्त्यनुभवेज्ञानधारापि स्मर्येत । नत्वेवं स्मर्यते । तस्माद्वृत्त्यन्त-
रेण वृत्तिर्गृह्यत इति स्वीकर्तुमशक्यमित्यर्थः । अनन्तवृत्तिकल्पनापेक्षया सकलवृ-
त्तिगोचरनित्यविवेकचैतन्यकल्पने लाघवमिति भावः ॥ २१ ॥

ननु वृत्त्यन्तरैर्वृत्तयो ग्राह्यास्तत्राह—चित्तान्तरग्राह्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्र-
सङ्गः स्मृतिसंकरश्च । यदि वृत्तिश्चित्तान्तरेण गृह्येत तदा बुद्धिबुद्धेर्वृत्तिवृत्ती-
नामतिप्रसङ्गोऽनवस्था । अगृहीताया बुद्धेः बुद्धिग्रहणासामर्थ्यात् । अतथात्वे त्याद्याया
अपि तादृश्या एव विषयग्राहकत्वं स्यादिति व्यर्था तत्कल्पना स्यात् । स्वयमप्र-
काशमानाया इतरप्रकाशासामर्थ्यमिति चेतुल्यम् । स्मृतिसंकरश्च । यावतीनां बुद्धि-
वृत्तीनामनुभवस्तावतीनां धारापि घटघटज्ञानात्स्मर्येत । नत्वेवं स्मर्यते । तस्माद्वृ-
त्त्यन्तरैर्वृत्तिग्रहो न युक्तः । किंचानन्तवृत्तिकल्पनापेक्षया नित्यविवेकचैतन्यकल्पने
लाघवमिति बोध्यम् । 'येपि साङ्ख्ययोगादयः स्वप्रकाशं ज्ञानमिति वदन्ति ते स्वश-
ब्देन तत्स्वामिनं पुरुषं भोक्तारं गृह्णन्ति' इति भाष्यम् ॥ २१ ॥

ननु भवन्मतेऽप्यपरिणामिनः कथमस्य वृत्तिदर्शनं तत्राह—

**चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धि-
संवेदनम् ॥ २२ ॥**

अप्रतिसंचाराया अपि चित्तेः पुरुषस्य स्वीयबुद्धिवृत्तिदर्शनं बुद्धिवृत्त्याकाराप-
त्त्येव भवतीत्यर्थः । वृत्त्याकारतापत्तिश्च वृत्तिप्रतिविम्बितत्वं तस्य नित्यम् ॥ २२ ॥

अथ स्वमते वृत्तिभानमुपपादयति—चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारा-
पत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् । अप्रतिसंक्रमाया अपरिणामिन्या अतएवाप्रतिवि-
म्बिताया अपि चित्तिशक्तेः परिणाम्यर्थरूपा या बुद्धिवृत्तिस्तया विवेकाग्रहात् तदा-
कारापत्ताविव जातायां स्वीयबुद्धिवृत्तिदर्शनं भवतीत्यर्थः । यदा प्रतिसंक्रमः संचा-
रस्तद्रहिताया अपि बुद्धितद्वृत्तिमिविवेकाग्रहाद्बुद्धिवृत्तिसंचारेण संचरमाणाया इव
विषयाकारवृत्त्यनाकाराया अपि तदाकारताया इवापत्तौ तद्दर्शनमित्यर्थः । तदुक्तं
भाष्ये—'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रामति
प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकार-
मात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते' इति । तथाच श्रुतिः—

‘न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम् । गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते’ इति । अविशिष्टां विवेकाग्रहात् चित्तेरविशिष्टाम् । तस्यामेव गुहायां तत् गुह्यं ब्रह्म तदपनये तु स्वयमनावरणमनुपसर्गं प्रद्योतते चरमदेहस्य भगवत इति मिश्राः ॥ २२ ॥

ननूपद्यतां कूटस्थस्यापि स्वंबुद्धिज्ञानं प्रतिविम्बरूपसंबन्धाच्छब्दादिभानमात्मभानं च कथं स्यात् ? साक्षात्प्रतिविम्बाङ्गीकारे शब्दादीनामज्ञानसत्तानुपपत्तेः, स्वस्मिन् साक्षात्स्वप्रतिविम्बासंभवाच्च (इत्यत आह)—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

चित्तमेव पुरुषस्य सर्वार्थं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यरूपाखिलदृश्याधारभूतम् । न चित्तातिरिक्तं पुरुषस्य दृश्यमिति । यतो द्रष्टृदृश्याभ्यामुप(रक्ता बुद्धिवृत्तिः साक्षाद्दृश्या । तदारूढतया तु द्रष्टृशब्दादिश्च दृश्यो भवतीति क्षणिकविज्ञानमेव चित्तमिति बौद्धमते चित्तातिरिक्त आत्मा प्रसाधितः ॥ २३ ॥

अथ चित्तातिरिक्तं (द्रष्टारं) प्रत्यक्षेणापि साधयति—द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् । सर्वार्थं प्रमाणीभूतमित्यर्थः । यथा नीलाद्यनुरक्तं चित्तं तमर्थं प्रत्यक्षेण स्थापयति, एवं द्रष्टृच्छायापन्नं चित्तं द्रष्टारमपि प्रत्यक्षेण स्थापयतीत्यर्थः । अतएव नीलमहं वेद्मीत्यनुभवः । अहमिति प्रत्ययो हि चैतन्योपरक्तचित्तविषयः । एवं यद्यपि ज्ञाता प्रत्यक्षविषयस्तथापि न विविच्य यथा जले चन्द्रविम्बम् । तदुक्तं भाष्ये—‘मनो हि मन्तव्यार्थेनोपरक्तं स्वयं च विषयत्वात् विषयिणा पुरुषेणात्मीयवृत्तिद्वाराभिसंबद्धं द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमपि अविषयात्मकमिवाचेतनमपि चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सत्त्वमयत्वात्सर्वार्थमित्युच्यते । तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुरिति’ । ननु समाधावाल्म्बनभाव आत्मनः कथमिति चेदत्र भाष्यं—‘प्रतिविम्बीभूतस्य चित्तवृत्तिद्वारा ज्ञेयत्वात्’ मलिनेऽपि जलादौ अत्यन्तनिर्मलरवेः प्रतिविम्बवत्पुरुषादनिर्मलेऽपि चित्ते पुरुषस्य प्रतिविम्बस्वीकाराददोषः । हृदयावच्छिन्नचित्ते तदवच्छिन्नचैतन्यस्याविभागेनाविभक्तिरेव प्रतिविम्बितत्वम् । तदवच्छेदेन तथाभिव्यक्तस्य च चित्तवैधर्म्येण ज्ञानम् ॥ २३ ॥

इदानीं वृत्त्यतिरिक्तस्थिरचित्ताभ्युपगन्तृणामा.....दर्शयति—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

यद्यपि द्रष्टृदृश्यदर्शनगोचराद्यखिलवासनाभिश्चित्रमिव चित्तं तिष्ठति ? अतश्चित्तातिरिक्तपदा.....र्थत्वं संभवति । तथाप्येतत्परार्थं मन्तव्यम् । संहत्यकारित्वादित्यर्थः । अयं हेतुः प्रागेव व्याख्यातः ॥ २४ ॥

चित्तातिरिक्तात्मसद्भावे हेत्वन्तरमाह—तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि

परार्थं संहत्यकारित्वात् । असंख्येयामिः कर्मवासनाभिः क्लेशवासनाभिश्चि-
त्रीकृतमिव चित्तम् । एवं च तासां चित्ताश्रयतया चित्तस्य भोक्तृत्वं योग्यम् । एवं
च सर्वं चित्तार्थमेव स्यात्तथापि तादृशमपि चित्तं परार्थमेव । परस्य नित्योदासी-
नस्य पुरुषस्य भोगार्थमेव न स्वार्थं, संहत्यकारित्वात् गृहादिवत् । संहत्यकारित्वं
चेतरसाहिल्येनार्थक्रियाकारित्वमिति प्रागेव व्याख्यातम् । सत्त्वरजस्तमसां चात्र
सहकारिता । एवं च भोक्ता तद्गुणासंश्लिष्टः सिध्यति ॥ २४ ॥

तदेवमतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्वर्माणाम् (४।१२) इत्यादिसूत्रे.....
चित्तपुरुषयोश्च विवेकतः सत्त्वं परीक्षितम् । इदानीमेतज्ज्ञानादाद्यं मोक्षमादौ
प्रतिपादयति—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

मातृमानमेयात्मकस्याखिलप्रपञ्चस्य तप्तायःपिण्डवदेकीभावापन्नस्यापि यथोक्त-
प्रकारैरन्योन्यविशेषदर्शिनो विवेकदर्शिनश्चित्तस्य या पूर्वस्थिताऽऽत्मभावभावना
स्वसत्ताजिज्ञासा किंस्वरूपोऽहमासं, किंस्वरूपो वा तिष्ठामि किंस्वरूपो
वा भविष्यामीत्याद्याकारा तस्याः शोकाद्यनन्तानर्थहेतोर्विनिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ।
स्वर्गनरकमोक्षादिभिर्विचित्ररूपता चित्तादेरेव भवति न तु सदैकरूपचिन्मा-
त्रस्य ममेत्यवधारणे सति नैवात्मभावे चिन्तोदेतीति भावः । तथाच श्रुतिः “तं
ह वाच न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवं” इत्यादिरिति ॥ २५ ॥

अथ मोक्षं प्रतिपादयति—विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनि-
वृत्तिः । मातृमानमेयात्मकस्याखिलप्रपञ्चस्य तप्तायःपिण्डवदेकीभावापन्नस्यापि
यथोक्तप्रकारैरन्योन्यविशेषदर्शिनो विवेकदर्शिनश्चित्तस्य या पूर्वस्थिता आत्मभाव-
भावना स्वसत्ताजिज्ञासा किंस्वरूपोऽहमासं किंस्वरूपो भवामीत्याकारा तस्याः शोकाद्य-
नन्तानर्थहेतोर्विनिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । इयमपि भावना कस्यचिदेव पुण्यभागिनोऽनुष्ठिता-
ष्टाङ्गयोगैकदेशस्यैव भवति । अन्यस्य तु कर्मफले मोक्षे च नास्तिकतादृष्ट्याऽऽचि-
रेव तत्र भवति । तस्य च मोक्षमार्गश्रवणेन रोमहर्पाश्रुपाताभ्यामनुष्ठिताङ्गयोगै-
कदेशत्वमनुमेयम् । विवेकदर्शिनस्तु स्वर्गनरकादिभिर्विचित्ररूपता चित्तस्यैव न तु
सदैकरूपचिन्मात्रस्य मम, अविद्यया हि अहं चित्तधर्मैः परामृष्टः, तदपगमे तु
शुद्ध एवाहमिति जानतो नैवात्मभावभावनोचितेति भावः ॥ २५ ॥

आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेनेति पञ्चशिखाचार्यैरपि ज्ञानोत्पत्तिमात्रेणैवैको मोक्ष
उक्तः । तस्य विशेषदर्शनलक्षणस्य वक्ष्यमाणमुक्तेश्च कारणं संप्रज्ञातयोगमाह—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

तदा विशेषदर्शनावस्थायामात्मभावभावनाविनिवृत्त्या विक्षेपशून्यं चित्तं
कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यमभिमुखं सद्विवेकनिम्नं स्वभावादेव विवेकमार्गसंचारि-
विवेकनिष्ठं भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

तदवस्थायां कीदृशं चित्तं तदाह—तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं
१० पा० यो०

चित्तम् । तदा विशेषदर्शनावस्थायामात्मभावभावनाविनिवृत्त्या विक्षेपशून्यं चित्तं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्याभिमुखं सत् विवेकनिम्नं स्वभावादेव विवेकनिम्नं विवेकमार्गसंचारि विवेकनिष्ठं भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

ननु विशेषदर्शिनः संप्रज्ञातेन किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षयां सूत्रमिदं प्रवर्तते—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

कोमलकण्टकन्यायेन विशेषदर्शने जातेऽपि विशेषदर्शनावसरे प्रत्ययान्तराणि मिथ्याज्ञानरूपाणि जायन्ते । कुतः । संस्कारेभ्यः । अनादिकालसंचित्तस्य दृढतर-संस्कारस्य चित्तस्वाभाव्यात् ॥ २७ ॥

नन्वेवं विशेषदर्शिनः संप्रज्ञातेन न प्रयोजनमत आह—तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः । कोमलकण्टकन्यायेन विशेषदर्शने जातेऽपि तदवसरे तदन्तरालेषु अहंममेत्यादिप्रत्ययान्तराणि मिथ्याज्ञानरूपाणि जायन्ते क्षीयमाणेभ्योऽपि प्राग्भवीयसंस्कारेभ्यस्तदर्थं संप्रज्ञात आवश्यक इति भावः ॥ २७ ॥

सति चित्ते तदुन्मूलनमशक्यं तत्राह—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

तेषां संस्काराणां हानं तु पूर्वाचार्यैः क्लेशानामिवोक्तम् । यथानागताः क्लेशाः ज्ञानाग्निना दहन्ते एवं तेषामत्यन्तोच्छेदस्तच्चित्तेन सहैवेति ॥ २८ ॥

नन्वनादिकालसंचित्तस्य दृढतरसंस्कारस्य कथमुन्मूलनमत आह—हानमेषां क्लेशवदुक्तम् । यथा परिपक्वविज्ञाने दग्धवीजसदृशाः क्लेशा विवेकच्छिद्रसमुत्पन्ना अपि न संस्कारान्तरं जनयन्ति तथा तेनैव दग्धवीजभावं प्रापिता व्युत्थानसंस्कारा न अन्तरान्तरा प्रत्ययं जनयन्ति । एवं विवेकसंस्कारा निरोधसंस्कारैर्निरोद्धव्याः । परवैराग्यलक्षणज्ञानसंस्कारास्तु चित्तेन सह लीयन्ते इति दिक् ॥ २८ ॥

संप्रज्ञातपरम्परयापि यथा प्रत्ययान्तराणि तच्छिद्रेषु नोत्पद्यन्ते तदाह द्वाभ्याम्—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः

समाधिः ॥ २९ ॥

प्रसंख्यानं विवेकसाक्षात्कारस्तत्रापि योऽकुसीदो वार्धुषिकवत्सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपां सिद्धिं न प्रार्थयते तस्य योगविज्ञाभावेन सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यात्युदयाद्धर्ममेघनाश्री संप्रज्ञातस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः । उत्तमं योगजधर्मं मेहति वर्पतीति धर्ममेघः ॥ २९ ॥

व्युत्थाननिरोधोपायं विवेकज्ञानमुक्त्वा तन्निरोधोपायमाह—प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः । प्रसंख्यानं विवेकसाक्षात्कारस्तत्रापि योऽकुसीदः वार्धुषिकवत्सर्वभावाधिष्ठातृत्वरूपां सिद्धिं न प्रार्थ-

यते तदा तस्य योगविघ्नाभावेन सर्वथा निरन्तरविवेकख्यातेरेवोदयः संस्कार-
व्रीजक्षयाच्च न प्रत्ययान्तराणि तदा धर्ममेघनाम्नी संप्रज्ञातस्य पराकाष्ठा भवती-
त्यर्थः । उत्तमं योगजधर्म मेहति वर्षतीति धर्ममेघः ॥ २९ ॥

ततः किमिल्यत आह—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

ततो धर्ममेघसमाधेर्हेतोर्द्रष्टृद्वारा क्लेशकर्मणां निवृत्तिर्दाहो भवति । क्लेश-
कर्मणी कदापि नोत्पद्येते इत्यर्थः । क्लेशा अविद्यादयः पञ्च, कर्म अदृष्टम् । एत-
त्सूत्रोक्तो ज्ञाननिष्पत्तिकार्यो द्वितीयो मोक्षः पञ्चशिखाचार्यैरप्युक्तः । द्वितीयो
रागसंक्षयादिति । रागः क्लेशसामान्योपलक्षकः ॥ ३० ॥

तत्फलमाह—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः । ततो धर्ममेघात्समाधेर्हेतोः क्लेशाना-
मविद्यादीनां पञ्चानां कर्मणः अदृष्टस्य निवृत्तिर्दाहो भवति । क्लेशकर्मणी कदापि
नोत्पद्येते इत्यर्थः । अस्यामवस्थायां जीवन्मुक्त उच्यते । कारणाभावेन पुनर्जन्मा-
दर्शनादिति बोध्यम् ॥ ३० ॥

उक्तस्य जीवन्मुक्तस्य तृतीयं परममोक्षमुपपत्त्या सहाह सूत्राभ्याम्—

**तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञे-
यमल्पम् ॥ ३१ ॥**

तदा जीवन्मुक्तावस्थायां सर्वयोः क्लेशकर्मणोर्ज्ञानावरकमलयोरपगमनहे-
तुना ज्ञानस्य सत्त्वप्रकाशस्यानन्त्याद्विभुत्वाद्वापकत्वाज्ज्ञेयं तत्प्रकाश्यमल्पं
तदपेक्षया भवति । यदि हि पञ्चविंशतितत्त्वातिरिक्तमन्यदपि वस्तु तिष्ठेत्तदा
तदपि प्रकाश्येत । ज्ञेयस्यैव त्वल्पतयाऽल्पं प्रकाश्यते नतु स्वस्याल्पतये-
त्यर्थः ॥ ३१ ॥

धर्ममेघे सति यादृशं चित्तं तदाह—तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञान-
स्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् । आवरणं रजस्तमसी । मलाः क्लेशकर्मणि तैः सर्वप्र-
कारैरपेतस्य विमुक्तस्य ज्ञानस्य चित्तसत्त्वस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं भवतीत्यर्थः । पूर्वं हि
तमसामिभूतं सत्त्वं कचिदेव रज उद्भास्य प्रवर्तितं ग्रहणसमर्थं भवति । सर्वमलापगमे
हि सर्वस्य युगपदशेषविशेषतो ज्ञातत्वात्सर्वतो विरक्तं चित्तं विवेकसाक्षात्कारेऽपि
किंवहुनात्मसाक्षात्कारेऽपि विरक्तं भवतीति भावः । इदमेव ज्ञेयस्याल्पत्वं यद्वैरा-
ग्यविषयत्वं, तस्मिंश्च सर्वचित्तवृत्तिनिरोध इति तत्त्वम् । तदवस्थेनापि देहाद्यारम्भे
इदमपि सत्यं स्यात्—अन्यो मणिमविध्यत् तमनङ्गुलिरग्रथदग्रीवस्तं कण्ठे धृतवांस्त-
मजिह्वोऽस्तौदिति ॥ ३१ ॥

ततः किमिल्यत आह—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

ततो ज्ञानस्यानन्त्यात्परवैराग्येण कृतार्थानां समाप्तपुरुषार्थानां गुणानां

सत्त्वादीनां प्रकृत्याख्यानां परिणामक्रमः समाप्यते । पुरुषाणां भोगौपयिकः परिणामः पुनर्न भवतीत्यर्थः । क्रमश्चाविरला धारेत्युत्तरसूत्रे वक्ष्यते । अत्र सार्वज्ञ्यानन्तरं मुक्तिरिति राजमार्गाभिप्रायेणैवोक्तं नत्वयं नियमः । अनीश्वरस्या-सर्वज्ञस्याप्यभिमाननिवृत्त्यैव कैवल्यस्य भाष्यकृता व्याख्यातत्वात्तृतीयपादान्त्य-सूत्र इति ॥ ३२ ॥

ततः किं तत्राह—ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् । ततः परवैराग्यानन्तरं कृतार्थानां समाप्ततत्पुरुषार्थानां गुणानां सत्त्वादीनां प्रकृत्याख्यानां तत्पुरुषं प्रति परिणामक्रमः समाप्यते । कृतार्थपुरुषभोगौपयिकः परिणामः पुनर्न भवतीत्यर्थः । क्रमश्चोत्तरसूत्रे वक्ष्यते । अत्र सार्वज्ञ्यानन्तरं मुक्तिरवश्यं भवत्येवेत्यभिप्रायेणोक्तं नत्वयं नियमः । अनीश्वरस्यासर्वज्ञस्यापि अभिमाननिवृत्त्यैव कैवल्यस्य भाष्यकृता तृतीयपादान्त्यसूत्रे उक्तत्वादिति दिक् ॥ ३२ ॥

ननु परिणामसमाप्तिरिति वक्तव्ये क्रमशब्दः परिणामानां प्रतिक्षणमुत्पादविनाशकथनेन वैराग्योत्पादनाय प्रयुक्तः स चायमर्थः कथं क्रमशब्दाल्लभ्यते ? क्रमशब्दस्य पौर्वापर्यमात्रवाचित्वादित्याशयेन क्रमशब्दार्थमाह—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्षणप्रतियोगी क्षणस्यावसरस्य विरोधी क्षणेनाप्यनन्तरित इति यावत् । एवंरूपोऽत्र क्रमो विवक्षितो ननु पौर्वापर्यमात्रमिति विशेष्यदलार्थः । परिणामश्च पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिरित्युक्तम् । ईदृशक्रमे प्रमाणं दर्शयति—परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य इति । वस्त्रादिरूपस्य परिणामस्य पूर्वान्तापेक्षयाऽपरान्तेन चरमावस्थयाऽनवच्छिन्नपरिणामधारानुमीयत इत्यर्थः । वस्त्रादेर्हि दृश्यमाना विनश्यदवस्थाऽवयवापचयादिपरम्परयैवानुभूयते । तस्मिंश्चापचयोपचयादिरूपपरिणामे कालविशेषहेतुताया दुर्वचत्वेन, लाघवात् क्षणत्वेनैव हेतुतावधार्यते । अतः सुवर्णाद्यखिलवस्तुष्वपि वस्त्रादिदृष्टान्तेन प्रतिक्षणमनवच्छिन्ना परिणामधारानुमीयत इत्यस्मिन्सूत्रे भाष्यकृता सृष्ट्यादिप्रवाहस्यात्यन्तोच्छेदो नास्तीति सिद्धान्तितम् । तथाच विष्णुपुराणमपि—“अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते । अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः” इति ॥ ३३ ॥

ननु परिणामसमाप्तिरिति वक्तव्ये क्रमशब्दः परिणामानां प्रतिक्षणमुत्पादविनाशकथनेन वैराग्योत्पादनाय प्रयुक्तः स चायमर्थः कथं क्रमशब्दाल्लभ्यते तस्य पौर्वापर्यमात्रवाचित्वादत् आह—क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः । क्षणप्रतियोगी क्षणः प्रतियोगी प्रतिसंवन्धी यस्य सः क्षणप्रचयाश्रयः स एवात्र क्रमो विवक्षितो न तु पौर्वापर्यमात्रमित्यर्थः । परिणामश्च पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिः । ईदृशक्रमे प्रमाणमाह—परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः वस्त्रादिरूपपरिणामस्यापरान्तेन चरमावस्थयाऽनवच्छिन्नपरिणामधारानुमीयत इत्यर्थः । वस्त्रादेर्हि दृश्यमाना विनश्यदवस्थाऽवयवापचयपरम्परयैवानुभूयते । वृक्षादेरुपचयोऽप्येवम् । तस्मिंश्चोपचयापचयादिरूपे परिणामे कालविशेषहेतुताया दुर्वचत्वेन लाघवात्क्षण-

स्वेनैव हेतुतावधार्यते । अतः सुवर्णाद्यखिलवस्तुष्वपि वस्त्रादिदृष्टान्तेन प्रतिक्षणम-
नवच्छिन्ना परिणामधाराऽनुमीयते । प्रधानकार्यगतः परिणामक्रम एव प्रधानस्यापि
ननु स्वतस्तस्य सोऽस्ति । परिणममानेऽपि तस्मिन् विघाताभावाच्च तस्य नित्य-
त्वम् । अतएव परिणामिनित्यं तत् । कूटस्थनित्यस्तु पुरुषस्तेषु वद्वेषु चित्ताव्यति-
रेकाभिमानात्तत्परिणामे परिणामाध्यासः । मुक्तेषु तु न सोऽपि । अत्र भाष्यकृता
सृष्ट्यादिप्रवाहस्यात्यन्तोच्छेदो नास्ति अनन्तलाजीवानामिति सिद्धान्तितम् ।
विष्णुपुराणेऽपि 'अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते । अव्युच्छिन्नास्त-
तस्तुवेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः' इति ॥ ३३ ॥

कैवल्यस्वरूपमाह—

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-
प्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥**

कृतकर्तव्यतया पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणानां लिङ्गशरीरात्मकानां
यः प्रतिप्रसवः स्वकारणेऽत्यन्तविलयः स प्रकृतेः कैवल्यम् । या तु धर्माभेदा-
च्चित्तिशक्तित्वरूपिणी स्वरूपप्रतिष्ठा बुद्धिसत्त्वोपाधिकरूपशून्यत्वरूपा जपापाये
स्फटिकस्वरूपप्रतिष्ठावत्, सा पुरुषस्य कैवल्यमित्यर्थः । परस्परवियोगे हि प्रकृ-
तिपुरुषयोरपि केवलता एकाकिता भवति । इतिशब्दः शास्त्रसमाप्तौ ॥ ३४ ॥

वृत्तिदीपोऽयमुद्भास्य वृत्त्यन्तरतमोपहः ।

यथार्थयोगसूत्रार्थदृष्टयेऽस्तु सदा सताम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिवाजकविज्ञानाचार्यशिष्याग्र्यभावागणेशभट्टकृतायां
पातञ्जलवृत्तौ कैवल्यपादश्चतुर्थः समाप्तः ।

कैवल्यस्वरूपमाह—पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति । अत्र गुणशब्देन बुद्धिरूपतया परिणताः
सत्त्वादय उक्ताः । कैवल्यमेकाकिता । साचान्योन्यमविभक्तानामन्योन्यवियोगरूप-
तया गुणपुरुषयोरेव भवति । तत्र विवेकख्यात्या परचैराग्येण पुरुषार्थशून्यानां
गुणानां पुरुषोपकरणवासनासहितानामाल्यन्तिकः प्रतिप्रसवः प्रधाने लयस्तस्मात्पु-
रुषादत्यन्तवियोगस्तदेतच्चित्तिचिदपुरुषं प्रति प्रधानस्य कैवल्यम् । पुरुषस्य तु स्वरू-
पप्रतिष्ठा, सदा प्रतिविम्बरूपेणोपाधिना वियुक्ता चित्तिशक्तिरूपा तत्कैवल्यमित्यर्थः ।
वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पे । एवं हि पुरुषस्यात्यन्तिकदुःखभोगनिवृत्तिरूपपरमपुरु-
षार्थपर्यवसानं भवति ॥ ये तु परमात्मनि जीवात्मलयो मोक्ष इति वदन्ति तन्म-
तेऽपि समुद्रे नदीनामिव ब्रह्मणि जीवानामुपाधिलयेनाविभाग एव लयशब्दार्थ इति
न विरोधः । येऽप्यात्मनि अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इति वदन्ति वैशेषिकाः
तदपि नास्माकं विरुद्धम्, उपाधिविशेषगुणानामेवोपाधिमत्युपचारेण तदुच्छेदस्या-

प्युपचारात् । आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इति नैयायिकाः । तत्र भोग्यभोक्तृ-
भावसंबन्धेन दुःखनिवृत्तिः पुरुषार्थो न समवायेनेत्येतावान्विशेषः । वस्तुतो वैशे-
षिकमतवदेव तेनाविरोधः । यदपि नित्यानन्दावाप्तिर्मोक्ष इति तदपि निर्दुःखतारू-
पानन्दावाप्तिपरत्वे (न) किञ्चिद्विरुद्धम् । विद्वान्हर्षशोकौ जहातीत्यादि तु वैषयिक-
हर्षपरम् । ये तु वास्तवमात्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वमनुसंधातृत्वं मन्यन्ते तेषां तद्रूपेण
परिणामित्वापत्त्याऽनित्यत्वप्रसङ्गः । यदवस्थस्य सुखानुभवितृत्वं न तदवस्थस्य
दुःखानुभवितृत्वम् । अवस्थाभेदाङ्गीकारे चावस्थावतोऽपि नानात्वापत्त्यैकत्वभङ्गः ।
तस्माद्बुद्धियोगे यदात्मनोऽधिष्ठातृत्वं विच्छायाग्रहणसामर्थ्यं बुद्धिसत्त्वस्य तद्ग्रहण-
सामर्थ्यं [च चित्तेः ?] तेन बुद्धेर्यः कर्तृत्वाध्यवसायस्तेनैवाऽत्मनोऽपि तथाभासो न
वास्तवं कर्तृत्वादीत्यास्येयम् । मोक्षदशायां तु ग्राह्यग्राहकलक्षणव्यवहाराभावात्स्व-
रूपेणैवावतिष्ठते नात्मग्राहकत्वेन । स्वरूपं ह्यहमिति गृह्येत । ननु तदा तथा
ग्रहीतुं शक्यम् । अहंताया अभावात् । निर्विकल्पकं तु स्वरूपप्रतिष्ठापर्यवसाय्येवेति
दिक् ॥ ननु ज्ञानस्वरूप एव तवात्मा ज्ञानं स्वसंवेद्यमेवेति नियमभङ्ग इति चेन्न, वृत्ति-
रूपज्ञानविषय एवैतादृशनियमात् । यदपि नैयायिकाः जडे आत्मनि मनःसंयो-
गादिना ज्ञानोत्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति तेषां [विरोधसमाधौ] इतरव्यावृत्तं किमात्मत्वम् ।
नित्यत्वव्यापकत्वजातिमत्त्वानामाकाशमनआदिवृत्तित्वेन तद्व्यावर्तकत्वाभावात् ।
तस्मात्तदा जडेभ्यो व्यावृत्तये चिद्रूपताऽवश्यं स्वीकार्या । येऽप्यहंप्रत्यये आत्मनः
कर्तृत्वं कर्मत्वं च वदन्ति तेऽपि कर्तृत्वकरणत्वयोरिव कर्मकर्तृत्वयोरपि विरोधेन
निरस्ताः । तस्माच्चेतनोऽधिष्ठातेत्येव युक्तम् । केचित्तु कर्तृत्वमेवात्मनः । तथाहि
विषयसान्निध्ये या ज्ञानलक्षणा क्रिया समुत्पन्ना तस्या विषयसंवित्तिः फलं, तस्यां
च फलरूपायां संवित्तौ ज्ञानं क्रियास्वरूपं प्रकाशरूपतया प्रतिभासते । विषयश्च
ग्राह्यतया आत्मग्राहकत्वेन घटमहं जानामीत्येवंप्रकारेण तस्याः समुत्पत्तेः । अतः
कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चात्मनो रूपमिति वदन्ति । तेऽपि नैयायिकवदेव निरसनीया इति
शिवम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीपातञ्जलयोगसूत्रवृत्तौ नागोजिभट्टीयायां

कैवल्यपादश्चतुर्थः ।

विचार्य बहुतन्त्राणि योगसूत्रेषु या कृता ।

वृत्तिस्तया प्रीयतां मे भगवान्स फणीश्वरः ॥

॥ समाप्तं पातञ्जलयोगदर्शनम् ॥

श्रीः

योगसूत्रानुक्रमणिका ।

पा. सू.

पा. सू.

अ.

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्य-

ध्वभेदाद्धर्माणाम् ... ४ १२

अथ योगानुशासनम् ... १ १

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नि-

त्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या २ ५

अनुभूतविषयासंप्रमोपः स्मृतिः १ ११

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासं-

बोधः ... २ ३९

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा १ १०

अभ्यासधैराग्याभ्यां तन्निरोधः १ १२

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवे-

शाः क्लेशाः ... २ ३

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेपां प्रसुप्तत-

नुविच्छिन्नोदाराणाम् ... २ ४

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोप-

स्थानम् ... २ ३७

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ

वैरत्यागः ... २ ३५

ई.

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ... १ २३

उ.

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादि-

ष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ... ३ ३८

ऋ.

ऋतंभरां तत्र प्रज्ञा ... १ ४८

ए.

एकसमये चोभयानवधारणम् ४ २०

एतयैव सविचारा निर्विचारा

च सूक्ष्मविषया व्याख्याता १ ४४

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणा-

वस्थापरिणामा व्याख्याताः ३ १३

क.

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ३ २९

कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिवि-

धमितरेषाम् ... ४ ७

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हे-

तुः ... ३ १५

कायरूपसंयमात्तद्वाह्यशक्ति-

स्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्र-

योगेऽन्तर्धानम् ... ३ २१

कायाकाशयोः संबन्धसंयमा-

ल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाश-

गमनम् ... ३ ४१

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्-

पसः ... २ ४३

कूर्मेनाज्यां स्थैर्यम् ... ३ ३०

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तद-

न्यसाधारणत्वात् ... २ २२

क्लेशकर्मेविपाकाशयैरपरामृष्टः

पुरुषविशेष ईश्वरः ... १ २४

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट-

जन्मवेदनीयः ... २ १२

ग.

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थव-

त्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ... ३ ४६

च.

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ... ३ २६

चित्तान्तरग्राह्ये बुद्धिबुद्धेरति-

प्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ... ४ २१

| पा. | सू. | पा. | सू. |
|---------------------------------|----------|----------------------------------|----------|
| चित्तेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाका- | | ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् | २ ५२ |
| रापत्तौ खबुद्धिसंवेदनम् | ४ २२ | ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः काय- | |
| ज. | | सम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च | ३ ४४) |
| जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधि- | | ततो द्वन्द्वानभिघातः | ... २ ८ |
| जाः सिद्धयः ४ | १ | ततो मनोजवित्वं विकरण- | |
| जातिदेशकालव्यवहितानाम- | | भावः प्रधानजयश्च | ... ३ ४७ |
| प्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कार- | | तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतु- | |
| योरेकरूपत्वात्... .. ४ | ९ | ण्यम् १ १६ | |
| जातिदेशकालसमयानवच्छि- | | तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः | १ ३२ |
| न्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् | २ ३१ | तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् | ३ २ |
| जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छे- | | तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः | ... १ १३ |
| दात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः | ३ ५२ | तत्र ध्यानजमनाशयम् | ... ४ ६ |
| जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्या- | | तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् | १ २५ |
| पूरात् ४ | २ | तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सं- | |
| त. | | कीर्णा सवितर्का समा- | |
| तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि सं- | | पत्तिः १ ४२- | |
| स्कारेभ्यः ४ | २७ | तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या- | |
| तज्जपस्तदर्थभावनम् | ... १ २८ | परिग्रहाभ्यामाः... .. २ ३० | |
| तज्जयात्पञ्चालोकः ३ | ५ | तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा | ... २ २१ |
| तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार- | | तदपि बहिरङ्गं निर्वाजस्य | ... ३ ८ |
| प्रतिबन्धी १ | ५० | तदभावात्संयोगाभावो हानं | |
| ततः कृतार्थानां परिणामक्र- | | तद्दृशेः कैवल्यम् | ... २ २५ |
| मसमाप्तिर्गुणानाम् | ... ४ ३२ | तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रम- | |
| ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः | ... ४ ३० | पि परार्थं संहत्यकारित्वात् | ४ २४ |
| ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् | २ ५५ | तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् | १ ३ |
| ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्य- | | तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्रा- | |
| प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताप- | | ग्भारं चित्तम् ४ २६ | |
| रिणामः ३ | १२ | तदा सर्वावरणमलापेतस्य | |
| ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्य- | | ज्ञानस्यानन्याज्ज्ञेयमल्पम् | ४ ३१ |
| न्तरायाभावश्च १ | २९ | तदुपरागापेक्षित्वादस्य वस्तु | |
| ततः प्रातिभश्रावणवेदनाद- | | ज्ञाताज्ञातम् ४ १७ | |
| र्शास्वादवार्ता जायन्ते... | ३ ३५ | तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप- | |
| ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवा- | | शून्यमिव समाधिः | ... ३ ३ |
| भिव्यक्तिर्वासनानाम् | ... ४ ८ | | |

पा. सू.

पा. सू.

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये
कैवल्यम् ... ३ ४९

तत्पः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि
क्रियायोगः ... २ १

तस्मिन्तसति श्वासप्रश्वासयो-
र्गतिविच्छेदः प्राणायामः २ ४९

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्का-
रात् ... ३ १०

तस्य भूमिषु विनियोगः ... ३ ६

तस्य वाचकः प्रणवः ... १ २७

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा २ २७

तस्य हेतुरविद्या ... २ २४

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधा-

न्निर्वोजः समाधिः ... १ ५१

ता एव स्रबीजः समाधिः ... १ ४६

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविष-

यमकमं चेति विवेकज-

ज्ञानम् ... ३ ५३

तासामनादित्वं चांशिपो नि-

त्यत्वात् ... ४ १०

तीव्रसंवेगानामासन्नः ... १ २१

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः २ १०

ते ह्यादपरितापफलाः पुण्या-

पुण्यहेतुत्वात् ... २ १४

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ४ १३

ते समाधायुपसर्गा व्युत्थाने

सिद्धयः ... ३ ३६

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वैर्भ्यः ... ३ ७

त्रयमेकत्र संयमः ... ३ ४

द.

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्र-

त्ययानुपश्यः ... २ २०

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः २ १७

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ४ २३

दुःखदौर्मेनस्याङ्गमेजयत्वश्वा-

सप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः १ ३१

दुःखानुशङ्गी द्वेषः ... २ ८

दृग्दर्शनशक्तयोरेकात्मतैवा-

स्मिता ... २ ६

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य

वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् १ १५

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ... ३ १

ध.

धारणासु च योग्यता मनसः २ ५३

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ... २ ११

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ... ३ २७

न.

नचैकचित्ततन्त्रं वस्तु तत्प्र-

माणकं तदा किं स्यात् ४ १६

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ... ४ १९

नामिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ... ३ २८

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां

वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिक-

वत् ... ४ ३

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ४ ४

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्र-

सादः ... १ ४७

प.

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य

वशीकारः ... १ ४०

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुण-

वृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव

सर्वं विवेकिनः ... २ १५

परिणामत्रयसंयमादतीताना-

गतज्ञानम् ... ३ १६

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ... ४ १४

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्र-

तिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्र-

तिष्ठा वा चितिश्चिरिति ४ ३४

| पा. | सू. | पा. | सू. |
|------------------------------------|-----|------------------------------------|-----|
| प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूते- | | म. | |
| न्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं | | मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ... ३ | ३१ |
| दृश्यम् २ | १८ | मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि | |
| प्रच्छेदनविधारणाभ्यां वा प्रा- | | विशेषः १ | २२ |
| णस्य १ | ३४ | मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सु- | |
| प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ... ३ | १९ | खदुःखपुण्यापुण्यविषया- | |
| प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा- | | णां भावनातश्चित्तप्रसाद- | |
| स्मृतयः १ | ६ | नम् १ | ३३ |
| प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्ति- | | मैत्र्यादिषु बलानि ३ | २२ |
| भ्याम् २ | ४७ | य. | |
| प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमे- | | यथाभिमतध्यानाद्वा ... १ | ३९ |
| कमनेकेषाम् ४ | ५ | यमनियमासनप्राणायामप्र- | |
| प्रकृत्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्य- | | त्याहारधारणाध्यानसमा- | |
| वहितविप्रकृष्टज्ञानम् ... ३ | २४ | धयोऽष्टावङ्गानि ... २ | २९ |
| प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्व- | | योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ... १ | २ |
| था विवेकख्यातिर्धर्ममेघः | | योगाज्ञानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञा- | |
| समाधिः ४ | २९ | नदीप्तिराविवेकख्यातेः ... २ | २८ |
| प्रातिभाद्वा सर्वम् ३ | ३२ | रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वा- | |
| व. | | नि कायसंपत् ३ | ४५ |
| बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसं- | | व. | |
| वेदनाच्च चित्तस्य परशरी- | | वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्वि- | |
| रावेशः ३ | ३७ | भक्तः पन्थाः ४ | १५ |
| ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः २ | ३८ | वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावन- | |
| बलेषु हस्तिबलादीनि ... ३ | २३ | म् २ | ३३ |
| बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा | | वितर्कविचारानन्दास्मिताह- | |
| ततः प्रकाशावरणक्षयः ३ | ४२ | पानुगमात्संप्रज्ञातः ... १ | १७ |
| बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देश- | | वितर्का हिंसादयः कृतकारि- | |
| कालसंख्याभिः परिदृष्टो | | तानुमोदिता लोभक्रोध- | |
| दीर्घसूक्ष्मः २ | ५० | मोहपूर्वका मृदुमध्याधि- | |
| बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी च- | | मात्रा दुःखाज्ञानानन्तफ- | |
| तुर्थः २ | ५१ | ला इति प्रतिपक्षभावनम् २ | ३४ |
| भ. | | विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप- | |
| भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलया- | | प्रतिष्ठम् १ | ८ |
| नाम् १ | १९ | विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः सं- | |
| भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ... ३ | २५ | स्कारशेषोऽन्यः ... १ | १८ |

पा. सू.

पा. सू.

| | |
|-------------------------------------|----|
| विवेकख्यातिरविह्वला हानो- | |
| पायः २ | २६ |
| विशेषदर्शिन आत्मभावभाव- | |
| नाविनिवृत्तिः ४ | २५ |
| विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गा- | |
| नि गुणपर्वाणि २ | १९ |
| विशोका वा ज्योतिष्मती ... १ | ३६ |
| विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना | |
| मनसः स्थितिनिवन्धिनी १ | ३५ |
| वीतरागविषयं वा चित्तम् ... १ | ३७ |
| वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टाः १ | ५ |
| वृत्तिसारूप्यमितरत्र ... १ | ४ |
| आधिस्थानसंशयप्रमादाल- | |
| स्याविरतिभ्रान्तिदर्शनाल- | |
| ब्धभूमिकलानवस्थितत्वा- | |
| नि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरा- | |
| याः १ | ३० |
| पृथाननिरोधसंस्कारयोर- | |
| भिभवप्रादुर्भावौ निरोध- | |
| क्षणचित्तान्वयो निरोधप- | |
| रिणामः... .. ३ | ९ |
| श. | |
| शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो | |
| विकल्पः १ | ९ |
| शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतरा- | |
| ध्यासात्संस्कारस्तत्प्रविभा- | |
| गसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञान- | |
| म् ३ | १७ |
| शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानु- | |
| पाती धर्मी ३ | १४ |
| शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर- | |
| प्रणिधानानि नियमाः ... २ | ३९ |
| आत्माहङ्गजुगुप्सा परैरसं- | |
| र्गैः २ | ४० |

| | |
|--------------------------------------|----|
| श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापू- | |
| र्वक इतरेषाम् १ | २० |
| श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविष- | |
| या विशेषार्थत्वात् ... १ | ४९ |
| श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमा- | |
| दिव्यं श्रोत्रम् ३ | ४० |
| स. | |
| स एष पूर्वेषामपि गुरुः काले- | |
| नानवच्छेदात् १ | २६ |
| सति मूले तद्विषाको जात्या- | |
| युर्भोगाः २ | १३ |
| सत्तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्का- | |
| रासेवितो दृढभूमिः ... १ | १४ |
| सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्र- | |
| यत्नम् २ | ३५ |
| सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्ण- | |
| योः प्रत्ययाविशेषो भोगः | |
| परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पु- | |
| रुपज्ञानम् ३ | ३४ |
| सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कै- | |
| वल्यम् ३ | ५४ |
| सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र- | |
| स्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं स- | |
| र्वज्ञातृत्वं च ३ | ४८ |
| सत्त्वशुद्धौ सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रि- | |
| यजयात्मदर्शनयोग्यत्वा- | |
| नि च २ | ४१ |
| सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः | |
| पुरुषस्यापरिणामात् ... ४ | १८ |
| समाधिभावनार्थः क्लेशतनूक- | |
| रणार्थश्च २ | २ |
| समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् २ | ४५ |
| समानजयाज्ज्वलनम् ... ३ | ३९ |
| संतोषादनुत्तमः सुखलाभः २ | ४२ |

| पा. | सू. | पा. |
|-----------------------------------|-----|--------------------------------|
| संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजा- | | खविषयासंप्रयोगे चित्तस्य |
| तिज्ञानम् ३ | १८ | स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां |
| सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ | | प्रत्याहारः २ |
| चित्तस्य समाधिपरिणामः ३ | ११ | खस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपल- |
| सुखानुशयी रागः २ | ७ | ब्धिहेतुः संयोगः ... २ |
| सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यव- | | खाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः २ |
| सानम् १ | ४५ | ह. |
| सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म | | हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ... ४ |
| तत्संयमादपरान्तज्ञानम- | | हृदये चित्तसंचित् ३ |
| रिष्टेभ्यो वा ३ | २१ | हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृही- |
| स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्या- | | तत्त्वादिषामभावे तदभावः ४ |
| करणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ३ | ५० | हेयं दुःखमनागतम् ... २ |
| स्थिरसुखमासनम् २ | ४६ | क्ष. |
| स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थव- | | क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेक- |
| त्त्वसंयमाद्भूतजयः ... ३ | ४३ | जं ज्ञानम् ३ |
| स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्ये- | | क्षणप्रतियोगी परिणामापरा- |
| वार्थमात्रनिर्भासा निर्वित- | | न्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ... ४ |
| र्का १ | ४३ | क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्य- |
| स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ... १ | ३८ | हीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थित- |
| स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा- | | दञ्जनतासमापत्तिः ... १ |
| रुढोऽभिनिवेशः ... २ | ९ | |

समाप्ता योगसूत्रानुक्रमणिका ।



